राहुल निबंधावली

[साहित्य]

राहुल सांकृत्यायन

पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस (प्रा.) लिमिटेड

अहमदाबाद · नई दिल्ली · बम्बई

यह निबन्धावली

महापंडित राहुल सांकृत्यायन ने हमारी भाषा और संस्कृति की श्री-समृद्धि के लिए जितना कार्य अपने जीवन-काल में किया, उतना शायद ही किसी अन्य व्यक्ति ने किया हो। विश्व साहित्य में जो कुछ नवीन, स्वस्थ और श्रेष्ठ है, उसकी ओर तो उन्होंने हिन्दी वालों का ध्यान आकर्षित किया ही, इतिहास, दर्शन और पुरातत्व के अपने गहन अध्ययन द्वारा उन्होंने अतीत की स्वस्थ-सबल परम्पराओं का भी उद्घाटन किया। उनकी सफलता का श्रेय, निश्चय ही, उनके वैज्ञानिक दृष्टिबिन्दु को है। दर्शन, इतिहास, संस्कृति या साहित्य का कोई भी विद्यार्थी आज राहुल सांकृत्यायन को दरकिनार कर आगे नहीं बढ़ सकता।

इस पुस्तक में हम राहुल जी के उन साहित्यिक निबन्धों का संकलन प्रस्तुत कर रहे हैं, जो पहले कभी पुस्तकाकार नही छपे। हिन्दी साहित्य के विद्यार्थियों और शोधकर्ताओं के लिए तो ये निबन्ध असाधारण महत्व के हैं।

निबन्धावली के प्रारम्भिक लेख **मैं कहानी लेखक कैसे बना, प्रेमचन्द स्मृति, सरस्वती का प्रकाशन**, आदि, आत्मकथात्मक पुट लिये हुए हैं। अत्यधिक रोचक होने के साथ-साथ वे कुछ ऐसी बातों की जानकारी देते हैं जो अन्यत्र उपलब्ध नही। उदाहरण के लिए, इन निबन्धों को पढ़ने से पहले कौन जानता था कि **कम्युनिस्ट मैनिफेस्टो** का पहला हिन्दी अनुवाद राहुल सांकृत्यायन और आचार्य नरेन्द्रदेव ने किया था और वह प्रेमचन्द जी के प्रेस में छप रहा था।

साहित्यिक प्रगति में बाधाएं शीर्षक निबन्ध हिन्दी की पत्र-पत्रिकाओं के सामने उपस्थित समस्याओं—और इससे भी बढ़ कर, इन पत्र-पत्रिकाओं में काम करने वाले प्रतिभाशाली किन्तु सेठाश्रित पत्रकारों के सन्मुख उपस्थित समस्याओं—की ओर इंगित करता है।

साहित्यकार का दायित्व निबन्ध (जो दिल्ली प्रान्तीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन १९५५ के अवसर पर दिये गये भाषण का अंश है) आज के संदर्भ में विशेष महत्वपूर्ण है। एक ओर जहां यह हिन्दी का पूरे जोर-जोर से समर्थन करता है, वहां भाषा के प्रति विनाशकारी साम्प्रदायिक दृष्टिकोण का भी उतने ही जोरो से खण्डन करता है। इस दृष्टि से यह लेख अद्वितीय है।

कौरवी जन-साहित्य, ग्वालियर और हिन्दी कविता, मारवाड़ी और पहाड़ी

भाषाओं का संबंध, हिन्दी की मूल भाषा कौरवी बोली है, आदि, निबन्धों में ऐसी सामग्री है जो भाषा-विज्ञान के विद्यार्थियों और हिन्दी भाषा के विकास का अध्ययन करने वाले मनीषियों के लिए विशेष रूप से उपयोगी है।

हिन्दी की आदि काव्य-धारा और सिद्धों पर राहुल जी के शोधकार्य से हिन्दी के सभी विज्ञ पाठक परिचित हैं। किन्तु, दुर्भाग्य से, मूल सामग्री किसी एक स्थान पर कम ही मिलती है। इसीलिए इस पुस्तक में हम उनके तीन निबन्ध **चौरासी सिद्ध, सिद्ध कवियों की भाषा** और **महाकवि स्वयंभू** एक साथ प्रस्तुत कर रहे हैं।

हिन्दी में पारिभाषिक शब्दों की समस्या आज भी एक जटिल समस्या बनी हुई है। किसी भी विकासमान भाषा के सामने ऐसी समस्या का उठना स्वाभाविक ही है। किसी हद तक इस समस्या को हल किया भी गया है। किन्तु इस दिशा में अब भी बहुत काम किया जाना बाकी है। प्रस्तुत निबन्धावली में **हिन्दी में पारिभाषिक शब्दों का निर्माण** इस दृष्टि से विशेष रूप से पठनीय निबन्ध है। भाषा के प्रति रूढ और विकृत दृष्टिकोण अपनाने वालों को राहुल जी कभी क्षमा नहीं कर सकते थे, किया भी नहीं। आचार्य रघुवीर का **परिभाषा निर्माण** निबन्ध इस कथन का साक्षी है।

उक्त निबन्धों के अतिरिक्त **भारतेन्दु और पुश्किन** ऐसा निबन्ध है जो हिन्दी के एक महारथी की विश्व साहित्य के एक अन्य महारथी से तुलना कर, हमारे साहित्य की स्वस्थ परम्पराओं को प्रतिष्ठित करता है। **लोक-साहित्य** और **लोक-गीत** संबंधी निबन्ध अत्यंत रोचक, सारगर्भित और नयी जानकारी से भरपूर है।

इन निबन्धों द्वारा राहुल सांकृत्यायन ने न केवल हिन्दी वाङमय को समृद्ध किया वरन् साहित्य, संस्कृति और चिन्तन की उस स्रोतस्विनी को पुष्ट किया जो क्रमशः ओजस्वी वेग धारण करती हुई नूतन परिवेश में जन मानस को आप्लावित कर रही है।

निबन्धावली की यह पहली पुस्तक पाठकों के हाथ में देते हुए हमें विशेष हर्ष हो रहा है। आशा है, पाठक इसका स्वागत करेंगे।

शीघ्र ही हम निबन्धावली के अन्य पुष्प भी प्रस्तुत करेंगे।

१६ दिसम्बर, ७०
नई दिल्ली

—रामशरण शर्मा 'मुंशी'

भूमिका

स्वर्गीय महापंडित राहुल सांकृत्यायन जी की प्रतिभा [illegible]) एक साथ गंभीर दार्शनिक, राजनीतिविद्, पुराविद्, समाजशास्त्री, [illegible], नाटककार और कहानी लेखक भी थे। साहित्य की जिस विधा पर भी उन्होंने लेखनी चलायी, उसी में चमत्कार पैदा कर दिया। उनके इसी गुण के कारण हिन्दी में उनकी कृतिया सबसे अधिक पढ़ी जाती हैं। भारत के लगभग १० विश्वविद्यालयों में राहुल-साहित्य पर अनुसन्धान हो रहे हैं। उनके साहित्य के विविध पहलुओं पर शोध करने वाले सात व्यक्तियों को डॉक्टरेट की उपाधि मिल चुकी है।

अपने विशाल ग्रथो के अतिरिक्त महापंडित जी ने अनेक रोचक एवं ज्ञानवर्धक निबन्ध भी लिखे हैं। ये निबन्ध पुस्तक के रूप में अप्राप्य होने के कारण राहुल-साहित्य के शोधार्थियों को कठिनाइयों का सामना करना पड़ा है। यद्यपि हम लोगों ने पहले ही अनुभव किया था कि राहुल-साहित्य के अध्येताओं के लिए लेखक की समग्र कृतियों का पुस्तकाकार प्रकाशित होना अनिवार्य है, किन्तु निबन्ध विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में बिखरे होने के कारण सबसे पहला काम था उनको खोज कर एकत्र करना। इस कार्य में मुझे काफी सफलता भी मिली है। साहित्य, दर्शन, देश-दर्शन, इतिहास, विज्ञान, भाषा-विज्ञान, राजनीति, बौद्धधर्म आदि विविध विषयों पर लिखे महापंडित जी के इन निबन्धों को राहुल निबन्धावली के नाम से आठ खण्डों में प्रकाशित करने की हमारी योजना है। प्रस्तुत खण्ड इसी योजना का प्रथम 'पुष्प' है, जिसमें राहुल जी के अनेक साहित्यिक निबन्धों मे से कुछ को चुन कर संकलित किया गया है। निकट भविष्य मे निब्बधावली के शेष खण्ड भी राहुल-साहित्य के पाठकों को सुलभ हो, इस दिशा में हम प्रयत्नशील है।

राहुल निबन्धावली के प्रस्तुत खण्ड में संकलित निबन्धों के बारे में हम क्या कहें ? इनके मर्मज्ञ तो राहुल-साहित्य के सुधी पाठक ही होगे। पाठकों की इस पुस्तक की आवश्यकता को ध्यान में रख कर प्रकाशक ने इसे अल्प समय में ही प्रकाशित कर दिया है, जिसके लिए मैं पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, की कृतज्ञ हूं। साथ ही निबन्धों के सुन्दर सम्पादन के लिए श्री मुंशी का भी मैं आभार मानती हूं।

—कमला सांकृत्यायन

राहुल निवास
२१ कचहरी रोड
दार्जिलिंग : पश्चिम बंगाल।

सूची

मैं कहानी लेखक कैसे बना ?

कहानी लेखक क्या लेखक भी मैं कैसे बना, इसे कहना मेरे लिए मुश्किल है। मेरे दिल में यह पहले कभी ख्याल भी नहीं आया था कि मैं लेखक बनूं। जब मैं निजामाबाद (आजमगढ़) में उर्दू-मिडिल का विद्यार्थी था, उस समय रस्मी तौर पर निबंध लिखना पड़ता था। मेरे अध्यापक कोई विषय देते, और उसके ऊपर हम विद्यार्थी दो-तीन पृष्ठ लिख लाते। मुझे अपने लेख पर कोई अभिमान नही था, और अध्यापक की कुछ तारीफ को मैं कोई महत्व नही देता था। मुझे हाथ से नक्शा भी बनाना पड़ता था। मैं नक्शा बना कर उसमें हरे-लाल रंग भर देता। नक्शे के बारे में मैं निश्चित जानता था कि वह बिलकुल गलत है, इसलिए उसके बारे में कोई अभिमान नहीं कर सकता था। लेकिन हमारे अध्यापक (बाबू जगन्नाथ राय) तारीफ किये बिना नहीं रहते और दूसरे विद्यार्थियों के सामने मेरे नक्शे को आदर्श के रूप में पेश करते। मैं मन में केवल मुस्कुरा देता। उस समय भी मेरी यदि लालसा थी, तो घुमक्कड़ बनने की और कुछ ज्ञानार्जन करने की। लेखक तो समझता हू, संयोग से ही मैं बन गया। यात्री लोग यात्रा के बारे में पूछा ही करते हैं, और हर यात्री श्रोताओं की जिज्ञासा पूरी करने के लिए कुछ कहता भी है। ऐसा कहना तो मेरा पहले से भी जारी रहा होगा। १६१५ ई. में जब मैं आगरे में था, वहा जबर्दस्ती कलम पकड़ा दी गयी। वहां मैं उपदेशक बनने गया था। और मुझे व्याख्यान देने तथा शास्त्रार्थ करने की कला सिखायी जाती थी। हमारे शिक्षक उसके अधिकारी नही थे, वह सभा-सोसाइटियों में बोल लिया करते थे। वहां से एक उर्दू का अखबार निकलता था, उसी में खडन-मंडन के रूप में आर्य-समाजी ढंग का कोई लेख पहले-पहल मुझे लिखने के लिए कहा गया था। उससे उत्साहित होकर मैंने कहा—एक कदम आगे और बढ़ा जाय। मुझे मालूम नही कि मेरे सहपाठियों में—जिनमें सभी मिडिल पास या फेल थे—किसी का कोई लेख उस समय तक हिन्दी पत्र-पत्रिकाओं मे छपा था। १६१५ ई में ही मैंने पहला हिन्दी लेख लिखा था, जो कि आधा कहानी और आधा यात्रा के रूप मे था। अधिकतर यात्रा-वर्णन जैसा ही। सैंतीस वर्ष हो गये, उसके बाद फिर मैं उस लेख को देख नही पाया। वह मेरठ से निकलने वाले मासिक पत्र भास्कर में छपा था। पहले छपे लेख को देख कर मुझे भी प्रसन्नता हुई।

१६१५ ई. के बाद बहुत वर्षों के लिए मेरी लेखनी हिन्दी में विश्राम लेने लगी, वैसे भाई महेशप्रसाद (मौलवी फाजिल) मेरे पथ-प्रदर्शक और अरबी के गुरु थे, वह पत्रिकाओं के लिए कुछ ऐतिहासिक-कहानियां लिखते थे, जिनमें अपनी संस्कृत और हिन्दी की योग्यता के कारण मैं सहायता जरूर देता था, किन्तु स्वयं नहीं लिखता था। अगले चार-पांच सालों तक जब तब मैंने लाहौर के उर्दू पत्रों में आर्यसमाजी ढंग के कुछ लेख जरूर लिखे, लेकिन हिन्दी के लेख १६२० ई. में ही जालंधर कन्या विद्यालय से निकलने वाली भारती के लिए लिखे। वे कुशीनगर, लुम्बिनी, जेतवन-श्रावस्ती, वैशाली, नालंदा-राजगीर के बौद्ध तीर्थ स्थानों की यात्रा के संबंध मे थे। यात्रा लिखने का शौक कुछ ही कुछ पैदा होने लगा था।

१६२१ ई. मे असहयोग आन्दोलन में तथा राजनीतिक क्षेत्र में मैं काम करने लगा। अब कार्यक्षेत्र था—बिहार का छपरा जिला। उस समय लिखने की न कोई इच्छा होती थी और न जरूरत ही, यद्यपि मेरी हिन्दी अधिक स्वाभाविक हो गयी थी, लेकिन मुझे याद नहीं कि अपने राजनीतिक जीवन के समय छपरा में मैंने कभी भोजपुरी छोड़ कर हिन्दी मे भाषण दिया हो। १६२१ ई. के अन्त मे मुझे सजा हुई और छः महीने के लिए जेल चला गया। वहां अब लिखने-पढ़ने का समय मिला, और मैंने कलम उठायी। यही कथा लिखने में पहले-पहल हाथ लगा। यद्यपि उसका उद्देश्य कहानी या कथा लिखना नहीं था। जैसे यात्री होने के कारण उसके बारे मे मैंने कुछ लिखना शुरू किया था, उसी तरह १६१८ और १६१६ ई. में रूसी क्रान्ति की जो थोड़ी-बहुत खबरें गलत या सही हिन्दी-पत्रों मे निकलती, उनमें कल्पना की नमक-मिर्च लगा कर मैंने अपने मन में एक साम्यवादी दुनिया की सृष्टि कर ली थी। उसी दुनिया को मैं कागज पर उतारना चाहता था। साम्यवाद का सैद्धान्तिक ज्ञान उस समय मेरे पास कुछ नहीं था, मैंने तो मार्क्स का नाम भी नहीं सुना था, इसीलिए मेरा साम्यवाद उटोपियन साम्यवाद था, मुझे व्यावहारिक कठिनाइयों का कोई पता नहीं था। अभी मैं नहीं समझ पाया था कि साम्यवाद के वाहक साधारण मजदूर और किसान हैं, जिन्हें अक्षर से भी कम सरोकार नहीं है। किस तरह साम्यवाद भारत में स्थापित हो, इसे संस्कृत श्लोकों में लिखना शुरू किया। खैरियत यही हुई कि मैं छः महीने के लिए ही जेल गया था, जिसमें संस्कृत रचना के लिए सारा समय दे भी नहीं सकता था। जेल के साथियों में कोई उपनिषद् पढ़ता, तो कोई किसी दूसरी पुस्तक को, इसके कारण समय थोड़ा ही रहता। इस प्रकार संस्कृत में पद्यबद्ध कथा लिखने का काम थोड़े ही दिनों चल कर रुक गया। १६२२ ई. के जून या जुलाई में जेल से छूट कर मैं बाहर आया, उसके बाद के छः महीने फिर कांग्रेस

के कामों में लगे। पटना में प्रांतीय कांग्रेस कमेटी की बैठक थी, वहीं गुलाब बाग मे एक सार्वजनिक सभा हुई। चौरी-चौरा कांड के सिलसिले में कई देशभाइयों को फांसी की सजा दी गयी थी। राजनीति में एकांत अहिंसा पर मेरा कभी विश्वास नहीं था, इसलिए चौरी-चौरा के दंडित देशभक्तों की प्रशंसा मे मैंने भी गर्मागर्म भाषण किये।

उक्त व्याख्यान के बाद ही डेढ़ महीने के लिए मैं नेपाल चला गया—शायद १९२३ ई. का फरवरी-मार्च का महीना था। छपरा के मित्रों ने सूचित करने के लिए नेपाल चिट्ठी भी भेजी थी कि आपके खिलाफ वारंट है। वह चिट्ठी नहीं मिली, नहीं तो नेपाल में तिब्बत जाने का इतना आकर्षण और निमंत्रण प्राप्त हो गया था कि भारत आने की जगह उधर ही चला गया होता। खैर, लौटने के बाद गिरफ्तार हुआ, मैंने अपराध स्वीकार किया, और पटने में दो साल की सादी सजा लेकर जेल मे चला गया। १९२३-२५ ई. तक जेल जीवन में मैंने काफी कलम चलायी। यद्यपि वहां लिखी और अनूदित बारह-तेरह पुस्तकों में बहुत थोड़ी ही बच कर प्रकाशित हो पायीं, लेकिन अब से लिखने को भी मैंने अपने जीवन के कार्य में शामिल कर लिया। बक्सर की पहली जेल-यात्रा मे जिस कथा को मैंने संस्कृत काव्य के पांच सर्गों तक पहुंचाया था, अब उसे बेकार समझ उसकी जगह मैंने हजारीबाग में बाईसवीं सदी लिखी। बाईसवीं सदी को उपन्यास कह लीजिए या बड़ी कहानी या समाजवादी उटोपिया, वही मेरा पहला कथात्मक ग्रंथ है। जेल में मैंने चार अंग्रेजी उपन्यास जादू का मुल्क, सोने की ढाल, विस्मृति के गर्भ में, शैतान की आंख का भावानुवाद करके भौगोलिक और वैयक्तिक तौर से उनका बहुत कुछ भारतीकरण कर दिया। इस काम को मैं निष्काम भाव से कर रहा था, मैं यह नहीं समझता था कि वे किताबें कभी प्रेस का मुंह देखेंगी। जेल से जब कोई बाहर निकलता, उसके हाथ कुछ किताबें मैं बाहर भेज देता। मैं समझता, यदि नष्ट भी हो गयी, तो कोई परवाह नहीं. मेरा अभ्यास तो हो रहा है।

भाई पारसनाथ त्रिपाठी साल भर जेल मे मेरे साथ थे, उन्हें अंग्रेजी पढ़ाने के लिए मैंने हजारीबाग के जेलर के पास से कुछ अंग्रेजी उपन्यास मंगवाये थे, उन्हीं में ये भी थे। पढ़ाते वक्त ख्याल आया कि ऐसे साहसपूर्ण उपन्यास हिन्दी में भी हों तो अच्छे। इसीलिए मैंने उनका रूपान्तर किया था। मूल लेखकों का नाम खो गया और प्रकाशकों ने उन्हें इस तरह छापा, जिसमें मालूम हो कि वे मेरे मौलिक उपन्यास हैं।

१९२५ ई. के किसी समय जेल से निकलने पर फिर कुछ समय राजनीतिक काम और कुछ समय पंजाब और लदाख की यात्रा मे लगे। पंजाब और लदाख की यात्रा के संबंध मे मैंने कितने ही लेख लिखे। यात्रा और कथा-

कहानी का बहुत नजदीक संबंध है। यात्री होने के कारण यात्रा पर लिखने का मुझे शौक भी था। भारत की यात्राओं को समाप्त कर १९२७ ई. में सीलोन जाकर डेढ़ वर्ष रहा, वहां से भी यात्रा के संबंध में ही अधिकतर लिखता रहा।

तिब्बत की प्रथम यात्रा करके लौटने पर मित्रों का आग्रह हुआ कि मैं उस यात्रा को लेखबद्ध करूं, जिसका परिणाम हुआ तिब्बत में सवा वर्ष। इसके बाद तो यात्राओं का ही सिलसिला १९३८ ई. तक रहा, और उनके बारे में मैं लिखता भी रहा। यात्राओं के लिखते ही लिखते १९३५ ई. या १९३४ ई. में कुछ वास्तविक घटनाओं को लेकर कहानियां लिखने की इच्छा हुई, और एक-एक करके मैंने उन कहानियों को लिख कर पत्रिकाओं में भेजा, जो कि सतमी के बच्चे में संगृहीत हैं। उनमें स्मृतिज्ञान कीर्ति ही एक पुरानी ऐतिहासिक कहानी है, जिसकी सामग्री तिब्बत में मिली थी, बाकी सभी कहानियों के नायक मेरे बचपन के परिचित थे। इस प्रकार बाईसवीं सदी के बाद सतमी के बच्चे और उसके साथ की और कहानियों को लिख कर मैंने कथा क्षेत्र में प्रवेश किया।

१९३८ ई. में किसान आन्दोलन के संबंध में फिर जेल में जाना पड़ा, वहां मिले समय का इस्तेमाल करते हुए मैंने जीने के लिए नामक अपना पहला उपन्यास लिखा, जिसमें वर्तमान शताब्दी की राजनीतिक और सामाजिक पृष्ठ-भूमि को लेते हुए एक संघर्षमय जीवन का चित्र खींचा गया है। इसके बाद उपन्यास लिखने की ओर मेरी रुचि बढ़ी, लेकिन जल्दी ही मुझे मालूम हो गया कि ऐतिहासिक उपन्यासों को लिखना ही मुझे अपने हाथ में लेना चाहिए। कारण एक तो यह कि इस तरह के उपन्यास के लिखने में जितने परिचय और अध्ययन की आवश्यकता है, वैसे उपन्यास-लेखक हिन्दी में अभी कम हैं; दूसरा यह भी कि अतीत के प्रगतिशील प्रयत्नों को सामने लाकर पाठकों के हृदय में आदर्शों के प्रति इस प्रकार प्रेरणा भी पैदा की जा सकती है। मेरे उपन्यासों या कहानियों में प्रोपेगंडा के तत्व को ढूंढने के लिए बहुत प्रयत्न करने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि उनके लिखने में मेरा उद्देश्य ही है—कुछ आदर्शों की ओर पाठकों को प्रेरित करना। अगर यह उद्देश्य मेरे सामने न रहता, तो शायद मैं कहानी या उपन्यास लिखता ही नहीं, इसलिए जिसे मेरे दोस्त प्रोपेगंडा कहते हैं, उसे मैं अपनी मजबूरी मानता हूं।

जीने के लिए के बाद तीन-चार साल तक मैंने फिर उपन्यास और कहानी नहीं लिखी। १९३३ ई. में ही योरप लौटते समय मन में ख्याल आया था कि साम्यवाद को समझने और उसकी ओर प्रेरित करने के वास्ते एक ऐसी पुस्तक लिखूं, जिसमें हमारे देश के ऐतिहासिक विकास कहानियों में आ जायें।

१९४१ ई. या १९४२ ई. में श्री भगवतशरण उपाध्याय की इसी तरह की ऐतिहासिक कहानियों को मैंने देखा। यदि भगवतशरणजी ने ऐतिहासिक कहानियों को परिमित संख्या में लिख कर प्रकाशित करवा दिया होता, तो शायद वोल्गा से गंगा लिखने में मैं हाथ नहीं डालता, लेकिन अभी उन्होंने थोड़ी ही कहानियां लिखी थी, और उनसे पता नहीं लगता था कि वह कब तक और कितनी कहानियां में उसे समाप्त करेंगे।

१९४२ ई. में हजारीबाग जेल मे रहते हुए मैंने वोल्गा से गंगा की बीस कहानियां लिख डालीं। आसन्न-भविष्य में विस्मृत यात्री[1] के नाम से महान पर्यटक नरेन्द्रयश (५१८-८२ ई.) के स्वात्त-उपत्यका, सिंहल, मध्य-एशिया, बैकाल सरोवर और चीन तक के बीते जीवन को लिखना चाहता हूं। हां, हो सकता है, आगे भी भारत या वृहत्तर भारत के संबंध में ऐतिहासिक उपन्यास लिखूं।

मैं अपनी कहानियों मे किसको सबसे अच्छी समझता हूं, यह कहना मेरे लिए मुश्किल है। वोल्गा से गंगा की कहानी 'प्रभा' को श्रेष्ठ कहते पहले मैंने दूसरों को सुना, और सुन-सुन कर ही मेरी भी उसके बारे मे वही धारणा हो गयी; नहीं तो उसी संग्रह की 'नागदत', 'प्रभा' और 'सुरैया' इन तीनों में मैं कम ही अंतर मानता हू।

●

[1] उपन्यास विस्मृत यात्री के नाम से छप चुका है।

प्रेमचन्द स्मृति

प्रेमचन्द आरंभ में उर्दू के लेखक थे। प्रथम विश्व युद्ध के समय और उससे कुछ पहले के वर्षों में कानपुर का जमाना एक उच्च कोटि का मासिक समझा जाता था। १६१५ के आस-पास उसी मे मुझे प्रेमचन्द के नाम और उनकी लेखनी से परिचय प्राप्त करने का अवसर मिला। लेकिन उनके दर्शन का मौका बहुत पीछे मिला। उनकी लेखनी का लोहा उस समय भी लोग मानने लगे थे, किन्तु उनकी शैली मे जो एक बड़ा गुण था, उसे ही उनके समसामयिक हिन्दी या उर्दू के कितने ही विद्वान दोष समझते थे। प्रेमचन्द का जीवन जैसा सीधा-सादा था, उसी तरह वह अपनी लेखनी को भी अनावश्यक कृत्रिम साज-बाज से सजाना पसन्द नहीं करते थे। साधारण जन-जीवन उन्हें प्रभावित करता था, उसी से प्रेरित होकर उनकी लेखनी चलती थी। वह चाहते थे कि जिस उद्देश्य से वह लिख रहे हैं, उससे अधिक से अधिक लोग लाभ उठा सकें। वह बहु-जन-हित के पक्षपाती थे और बहुजन-हिताय लिखते थे, इसलिए भाषा को बेकार बोझिल बनाना तथा अपनी पंडिताई को प्रकट करने के लिए दूसरे उर्दू लेखकों की नकल करना उन्हें पसन्द नहीं था। वह अपने उद्देश्य में बहुत कुछ सफल हुए। सफलता से मेरा मतलब आर्थिक सफलता से नहीं, वह तो भारतीय लेखकों के लिए अभी भी दूर की बात मालूम होती है। किन्तु उनकी कृतियों का स्वागत जिस तरह हुआ, उसे हम सफलता कह सकते हैं।

* * *

६ वर्ष बीत गये। मैं सारे भारत का दो बार चक्कर लगा चुका था और अब (१६२१ मे) छपरा जिले में आकर असहयोग-आन्दोलन में काम करते हुए गांव-गांव की खाक छान रहा था। एक-दो दिन वहां के एक गाव रेवतिया में रहना पड़ा। वहां प्रेमचन्द का दर्शन दूसरी बार हुआ। अब भी साक्षात नहीं, केवल उनकी कृतियों द्वारा ही। अब प्रेमचन्द हिन्दी के लेखक के तौर पर सामने आये थे। जिस परिवार में मैं मेहमान था, वह बहुत सुशिक्षित परिवार नहीं कहा जा सकता था। सुशिक्षित परिवार का अर्थ उस समय अंग्रेजी की शिक्षा ही नहीं, बल्कि अंग्रेजों की नकल मे भी कुशल होना माना जाता था। ऐसे परिवार हिन्दी या उर्दू मे बहुत कम रुचि रखते थे, इसलिए वहां प्रेमचन्द के स्वागत की आशा नहीं हो सकती थी। रेवतिया के जैसे ग्राम में प्रेमचन्द की

दो-तीन कृतियों को देख कर मुझे मालूम हुआ कि प्रेमचन्द ने हिन्दी पाठकों को एक नई और उच्च दिशा में आकृष्ट किया है। जासूसी उपन्यास और उसी तरह के दूसरे सस्ती रुचि के साहित्य के पढ़ने वाले हिन्दी में तब भी काफी मिलते थे। जो लोग अंग्रेजी शिक्षा से वंचित थे, उनके लिए यह छोड़ दूसरा साहित्यिक मनोरंजन का कोई सुलभ साधन नहीं था। सारे असहयोग काल और उसके बाद के भी कितने ही वर्षों तक राष्ट्र की नब्ज पहचानने वाले प्रेमचन्द एक के बाद एक अपनी प्रेरणादायक कृतियों द्वारा पथ-प्रदर्शन करते रहे, इतना ही कहना पर्याप्त नहीं होगा; बल्कि यह स्वीकार करना पड़ेगा कि १६२० से १६३० के दस वर्षों में प्रेमचन्द ने राष्ट्रीयता, राजनीतिक जागृति, उच्च आदर्श के प्रसार मे जितना काम किया, उतना बहुत से लेखकों ने मिल कर भी नहीं किया।

* * *

६ वर्ष और बीते, शायद १६२६ का साल था, समय-समय पर मैंने और भी प्रेमचन्द की कृतियों को पढ़ा—उससे भी अधिक पढ़ने की इच्छा थी, जिसे अब भी पूरा नहीं कर सका। प्रेमचन्द की लेखनी पर मुझे कभी दुर्भाव नहीं पैदा हुआ। कविता हो या गद्य-साहित्य, भारतीय हो या विदेशीय, बहुत कम लेखक मुझे प्रभावित करते हैं। बाज वक्त इसके कारण मुझे अपने ऊपर अविश्वास होने लगता है। किन्तु साथ ही कुछ साहित्यकार तो मुझे प्रभावित भी करते हैं। ऐसे ही साहित्यकारों में मैं प्रेमचन्द को मानता हूं।

नहीं कह सकता, किस समय प्रेमचन्द स्थायी तौर से बनारस मे रहने लगे। लेकिन बनारस ही में उनके साक्षात् दर्शन का अवसर मिला। इसे मैं दर्शन ही कह सकता हूं, क्योंकि जहा तक स्मरण है, हमारी कोई बातचीत नहीं हुई थी। बड़े आदमी को बड़े रूप और टीम-टाम में रहना चाहिए, यह ख्याल मेरे दिल मे कभी नहीं आया, इसलिए उनकी सीधी-सादी, दुबली-पतली मूर्ति और अर्ध-मगोलायित चेहरे को देख कर मुझे निराश होने की कोई जरूरत नहीं थी। बल्कि उन्होंने लेखनी द्वारा जिस साधारण जन की सेवा का व्रत लिया था, वह वेश-भूषा उसके बिलकुल अनुरूप थी।

मेरे सामने प्रेमचन्द की भाषा पर एक उर्दू के ख्यातनामा लेखक और कवि ने आक्षेप किया था कि वह उर्दू नहीं जानते, वह तो पूरब की बोली में लिखते हैं। मैं जानता था कि यह साहित्यिक महाशय लखनऊ के उन नवाबों के वर्ग के हैं, जो समझते थे कि गेहूं का कोई दरख्त होता है। उनको केवल नगर के शिक्षित मध्य वर्ग के जीवन का परिचय था। वह अपने वर्ग के और कितने ही शिक्षितों की तरह परम कूपमण्डूक थे। उनकी लच्छेदार उर्दू में

अरबी के शब्द भरे पड़े रहते हैं। शायद यह स्वयं यदि उपन्यास या कहानी लिखते—सौभाग्य से खुदा गंजे को नाखून नहीं देता—तो वह होरिल के मुंह से भी अपनी पसन्द की भाषा कहवाते।

हिन्दी के कुछ साहित्यिकों का भी कहना था कि उनकी हिन्दी में भाषा की सजावट और गहराई नहीं है। सजावट के बारे में मतभेद होने की गुंजाइश है, क्योंकि प्रेमचन्द से पहले भी चाहे कुछ उपन्यास लिखे गये हों, लेकिन उन्हें विश्व के उपन्यासों के सामने रखा नहीं जा सकता। प्रेमचन्द का इस विषय में पहला प्रयास था। उनके सामने अभी सजी-सजायी ऐसी भाषा तैयार नहीं हुई थी। इसलिए उन्हें इस सजावट के काम को भी करना पड़ता था। और प्रथम प्रयास होने से यदि वह कहीं उतनी चिकनी और सुडौल नहीं मालूम होती, तो उसके लिए उन्हें दोषी नहीं ठहराया जा सकता। गहराई न होने का आक्षेप तो बिल्कुल उपहासास्पद है। विदेशी भाषाओं में अनुवादित होने पर यह भाव-गाम्भीर्य ही है, जो कि लेखक का लोहा मनवाता है। अब भी प्रेमचन्द के कुछ समसामयिक साहित्यिक हैं, जो अपने विरोधी विचारों पर दृढ़ रहना चाहते हैं। मुबारक हो उनको वे अपने विचार, जो अधिक से अधिक २०-२५ साल तक और उनके साथ जी सकते हैं। मूल हिन्दी के पढ़ने पर तो शायद उपन्यास के आरम्भिक काल की भाषा कहीं-कहीं कुछ खटके भी, किन्तु अनुवाद में तो वह बिल्कुल सुन्दर सजी हुई भाषा का रूप ले लेता है।

• • •

अन्तिम बार जब प्रेमचन्द के दर्शन का अवसर मिला, उस समय तक हम दोनों एक दूसरे से खूब परिचित हो चुके थे, कितनी ही बार भेंट-मुलाकात और बातचीत भी हो चुकी थी। १९३१ में "कम्युनिस्ट मैनिफेस्टो" (मार्क्स) का हिन्दी अनुवाद मैं और आचार्य नरेन्द्रदेव कर रहे थे, जो कि प्रेमचन्द जी के ही प्रेस में छप रहा था और आगे की राजनीतिक गड़बड़ी के कारण वह पूरा नहीं हो सका। अब मैं एक तजर्बे का पर्यटक ही नहीं था, बल्कि साल के ७-८ महीने तिब्बत या किसी दूसरे देश की यात्रा में बिताता था। जाड़ों में सारनाथ गया हुआ था। वार्षिकोत्सव का समय था। इसी समय मेरे वहां उपस्थित रहने की संभावना थी।

एक दिन प्रेमचन्द जी आये। उनका गांव सारनाथ से मील-डेढ़-मील ही पर है। (उसके बाद मैं अनेक बार उनके जन्म-ग्राम में भी हो आया हूं, जहां मुझे एक टूटी हुई मूर्ति का सिर मिला था। यह किसी देवता की मूर्ति नहीं थी, बल्कि एक प्राग्-इस्लामिक या आदि-इस्लामिक काल के पुरुष की मूर्ति थी, सो भी किसी कायस्थ की। सिर के केशों की बनावट तथा गांव में कायस्थों

की प्रधानता इसी की ओर सकेत करती है। हो सकता है कि वह प्रेमचन्द के किसी पूर्वज की ही हो। मूर्ति मैंने प्रयाग म्यूजियम में भिजवा दी।) वहां चटाई पर बैठे हुए जब हम दोनों बात कर रहे थे, तो उस समय मुझे कभी ख्याल नही आया था कि यह हमारी अंतिम बातचीत है।

जाड़ों के बीतने के साथ मै तिब्बत गया और वही उनके निधन की खबर मिली। उनकी कृतियो के जितने श्रेष्ठ नायक है, उन्ही की मूर्ति प्रेमचन्द के रूप मे मुझे उस दिन सामने दिखायी पड़ी।

प्रेमचन्द भारत के अमर लेखक, अमर कलाकार हैं। उन्होंने साहित्यिक मनोरंजन और उच्चादर्श के लिए अन्तःप्रेरणा का ही सफल प्रयास नहीं किया, बल्कि उनकी लेखनी द्वारा २०वी शताब्दी की साढे तीन दशाब्दियों के लोक-जीवन का स्वरूप, लोक-इतिहास बड़ी स्पष्टता और ईमानदारी के साथ चित्रित हुआ है, कुछ ही समय बाद जिसके जानने का हमारे पास कोई अच्छा साधन नही रह जायेगा। उन्होंने अपनी लेखनी द्वारा इतिहास के संक्रान्ति काल के इन आवश्यक पत्रों को लिख कर सुरक्षित कर दिया। शताब्दियां बीतती जायेंगी, प्रेमचन्द की देखी-भाली, खेली-खायी, रोयी-गायी दुनिया का कही पृथ्वी पर पता नही रहेगा, उस वक्त पाठकों के लिए, प्रेमचन्द का यह चित्रण कम मनोरंजक और उत्साहवर्धक नही होगा।

प्रेमचन्द का विश्व के साहित्यकारों में क्या स्थान होगा, इसका अनुमान आप इसी से कर सकते है कि रूस के प्रसिद्ध लेनिनग्राद विश्वविद्यालय में हर साल प्रेमचन्द-दिवस मनाया जाता है, उनके गोदान को सुन्दर कृति समझ कर रूसी भाषा मे अनुवाद किया गया है। रूस ने साम्यवादी जगत की ओर से प्रेमचन्द का स्वागत किया है, इसमें सदेह नही।

●

भारतेन्दु और पुश्किन

'सूर सूर, तुलसी ससी' की लोकोक्ति द्वारा हमने सूरदास को अपने पुराने हिन्दी-साहित्य का सूर्य स्वीकार किया, किन्तु यदि हिन्दी के आधुनिक साहित्य के सूर्य को ढूढना हो तो शायद 'इन्दु' बना कर भी हमे हरिश्चन्द्र के सिवा दूसरा सूर्य नही दिखायी पड़ेगा, और कहना पड़ेगा :

"हरीचन्द सूरज भयो उडुगन ससी अनेक"

काव्य, नाटक, कथा, निबन्ध सभी क्षेत्रों में उन्होने हमारा पथ-प्रदर्शन किया—बहुमुखीनता के साथ उनमे मौलिकता थी। तत्कालीन रईसों में अत्यन्त व्यापक आलस्य और अभिमान का रोग उनमे नहीं था। उन्होंने हिन्दी के लिए बहुत किया, किन्तु देश की प्रतिकूल परिस्थिति उस प्रतिभा के पूर्ण उपयोग मे बाधक हुई। यदि उन्हे पूरी तौर से अपना जौहर दिखलाने का मौका मिलता तो वह कैसे चमत्कार दिखलाते, इसे हम रूस के महान कवि पुश्किन के काम से जान सकते हैं, जिसे समसामयिक मर्मज्ञों से लेकर आज के कट्टर बोरशेविकों तक, सभी "रूसी कविता का सूर्य" (सोल्न्त्से रुस्कोई पोयेजिया) कहते है। कितनी ही बातों में भारतेन्दु और पुश्किन मे समानता है। दोनों के समय में बहुत थोड़ा अन्तर है। पुश्किन की मृत्यु ३७ वर्ष की आयु में १८३७ ई. में हुई, उसके तेरह वर्ष बाद भारतेन्दु १८५० मे पैदा हुए, और यद्यपि पुश्किन की भाति पिस्तौल से लड़ते भारतेन्दु को प्राण नहो छोड़ना पड़ा, किन्तु उन्हें भी ऐसे संघर्षों से गुजरना पड़ा था, जिनसे कि ३५ साल के लघु जीवन में अपना काम समाप्त करना पड़ा।

पुश्किन का जन्म सन् १७९९ (६ जून) को रूस की राजकीय राजधानी नहीं, बल्कि सास्कृतिक राजधानी मास्को में एक सम्पन्न सामन्त परिवार में हुआ था। उसमे ५१ वर्ष बाद परतन्त्र भारत की सांस्कृतिक राजधानी वाराणसी के एक सम्पन्न उच्च मध्यम वर्ग के घर में भारतेन्दु ने जन्म लिया। पुश्किन की पहिली कृति[1] १५ वर्ष की उम्र में प्रकाश मे आयी, और तब से २३ वर्ष तक वह अपने कार्य मे लगा रहा। भारतेन्दु का मौलिक अनुवाद विद्यासुन्दर नाटक[2]

[1] मेरे कवि मित्र को (४ जुलाई १८१४ के वेस्तिनक यौरोपु में प्रकाशित).
[2] बगला से अनुवादित, सन् १८६८ में प्रकाशित.

१८ वर्ष की उम्र (१८६८ ई.) में प्रकाशित हुआ, तब से १६ वर्ष, अपने जीवन के अन्त (१८८४ ई.) तक वह अनवरत साहित्य-साधना में लगे रहे।

दोनों को अपनी मातृभूमि परम प्यारी थी। भारतेन्दु ने उस प्रेम को **भारत दुर्दशा** नाटक में अंग्रेजी शासन के सारे बन्धनों के रहते हुए प्रकट करने की कोशिश की और अंग्रेजी शासन की आंख में कांटे की तरह चुभते रहे, जिसमें अंग्रेजों के पिट्ठू राजा शिवप्रसाद 'सितारे-हिन्दगी' का भी कुछ हाथ था। और पुश्किन ? अपने स्वतन्त्र विचारों के लिए ज़ार का कोप-भाजन बन वर्षों वह **"काकेशस का बन्दी"** बना रहा। पुश्किन की प्रतिभा का प्रतिवाद ज़ार क्या खाकर करता ? उसका परिणाम सूर्य पर थूकना छोड और कुछ न होता। उसने चाहा कि यह अमर कलाकार क्षमा मांग कर उसका दरबारी बने, किन्तु पुश्किन ने इस तरह के प्रस्ताव के उत्तर में लिखा—तुम पूछते हो "क्यों मेरे पत्र रूखे-सूखे होते हैं ? लेकिन उनके उत्तम होने का कारण क्या हो सकता है ? अपने हृदय के अन्तरतम में मुझे विश्वास है कि मैं ठीक रास्ते पर हूं...क्षमा मांगना ? बहुत ठीक, किन्तु किस बात के लिए ?... वे मुझे अनुचर दास के रूप में देखना चाहते हैं, जिससे कि मेरे साथ वह मनमाना बर्ताव कर सकें...किन्तु मैं स्वयं सर्वशक्तिमान परमेश्वर का भी जी-हुज़ूर नहीं बन सकता।"

भारतेन्दु के मन में भी कुछ ऐसे ही भाव काम कर रहे थे जब उन्होंने निम्न पंक्तियां लिखी :

> सेवक गुनीजन के, चाकर चतुर के हैं,
> कविन की मीत चित हित गुनगानी के।
> सीधेन सों सीधे महाबांके हम बांकेन सों,
> "हरीचन्द" नगद दमाद अभिमानी के।
> चाहिबे की चाह काहू की न परवाह,
> नेही नेह के दिवाने सदा सूरत निवानी के।
> सरबस रसिक के सुदास-दास प्रेमिन के...

अथवा—

> "एरे नीचधनी, हमें तेज तू दिखावै कहा,
> गज परवाही नाहिं होवै कवों खर के।"

शासन और समाज के भ्रष्टाचार के बारे में भी भारतेन्दु के ये उद्गार एक विद्रोही हृदय से निकले हैं, यह क्या कहने की बात है :

> "चूरन अमले सब जब खावें, दूनी रिश्वत तुरत पचावें...
> चूरन सभी महाजन खाते, जिससे जमा हजम कर जाते।

चूरन खाते लाला लोग, जिनको अकिल-अजीरन-रोग...
चूरन पुलिस वाले खाते, सब कानून हजम कर जाते।"

हमारे काव्य-सचय बहुत अधूरे और संकीर्ण हैं। उनके भरोसे हम अपने किसी कवि-कलाकार की व्यापक झाकी नही पा सकते। अभी हमारी शिक्षा का सास्कृतिक धरातल इतना ऊंचा नही है कि यहां मसूरी के किसी पुस्तकालय में भारतेन्दु का ग्रंथ-संग्रह पाया जा सके। इसलिए हम पुश्किन की भांति ही भारतेन्दु के विचारों के नमूने देने में असमर्थ हैं। तो भी दोनों स्वतन्त्र-चैता थे, यदि भारतेन्दु "जय जय जय श्री गोपिका जय जय नन्दकुमार" के खूटे में बंधे रह गये, तो इसका कारण था पिछली शताब्दी की हमारे देश की राजनीतिक परतन्त्रता तथा सामाजिक पिछड़ापन।

पंडित रामचन्द्र शुक्ल हमारे बड़े जिम्मेदार आलोचक थे। उन्होंने लिखा है :

"हमारे साहित्य को नये-नये विषयों की ओर प्रवृत्त करने वाले हरिश्चन्द्र ही हुए...भारतेन्दु के प्रभाव से उनके अल्प-जीवनकाल के बीच ही लेखको का एक खासा मडल हो तैयार हो गया, जिसके भीतर पंडित प्रतापनारायण मिश्र, उपाध्याय बद्रीनारायण चौधरी, ठाकुर जगमोहन सिंह, प. बालकृष्ण भट्ट मुख्य रूप से गिने जा सकते है।"[1]

पुश्किन-स्मारक का उद्घाटन करते समय महान कथाकार तुर्गनेव ने कहा था "यह गुरु (शिक्षक) का स्मारक है।" ल्यू ताल्स्त्वा ने कहा था "पुश्किन हमारा गुरु है, हर एक लेखक को इस निधि का निरन्तर अध्ययन करते रहना चाहिए।"

गोर्की ने कहा, "पुश्किन हमारी कविता का संस्थापक है और हम सबों का सदा के लिए गुरु है, पुश्किन को बार-बार पढ़ना चाहिए।"

पुश्किन की १५०वी जयन्ती पर बोलते हुए ६ जून १९४९ को विद्वान स. सिमोनोफ ने कहा :[2]

"पुश्किन महान कवि और महान लेखक होने के साथ अपने युग का एक अत्यन्त प्रगतिशील पुरुष था। वह अपने समय के रूसी साहित्य का नेता और प्रकाश-स्तम्भ था। पुश्किन के क्रिया-कलाप का वर्णन अपूर्ण रहेगा, यदि 'लितेरातुर्नया गजेता' (साहित्य गजेट) के अन्त.प्रेरक तथा 'सव्रेमेन्निक' (समसामयिक) के सम्पादक के रूप में उसके कार्य के बारे में कुछ न कहा

[1] हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ. ४५०.
[2] सोवियत लिटरेचर, १९४९/९, पृ. १३७.

जाये। अपने समय की सभी विशिष्ट प्रतिभाओं को उसने प्रोत्साहित किया। उसने एक (सच्चे) संरक्षक की भांति हार्दिक शुभेच्छा तथा सहायकारी दिलचस्पी के साथ अनेक व्यक्तियों को साहित्य क्षेत्र में प्रवेश कराया। उसी ने गोगोल को **इन्सपेक्टर जेनरल** और **मृत आत्मा** लिखने का सुझाव दिया। ग्नेविच ने **इलियद** का पद्यमय अनुवाद जब समाप्त किया, तो पुश्किन ने उसे लिखा, 'मै तुमसे एक पुराण काव्य (महाकाव्य) की आशा रखता हू। तुमने लिखा कि 'स्वयातोस्लाव' की (वीर) आत्मा यशोगान के लिए भटक रही है...किन्तु क्या हाल है ब्लादिमिर का? मतिस्लाव का? दोन्स्की, यरमक और पजार्स्की के बारे में क्या कहते हो? (स्मरण रखो) इतिहास कवि की चीज है।'"

पुश्किन ने जुकोवस्की, बेलिन्स्की, किरेयेवस्की, व्याजेम्स्की आदि कितने ही महान लेखकों को आगे बढाया।

हमारे भारतेन्दु ने भी पुश्किन के 'समसामयिक' की भांति **कविवचनसुधा, हरिश्चन्द्र-मैगजीन, हरिश्चन्द्र-चन्द्रिका** द्वारा हिन्दी साहित्य और साहित्यकारों का निर्माण किया, और उन्ही के द्वारा "हिन्दी नयी चाल में ढली, सन् १८७३ ई. (में)।"[1]

भारतेन्दु अपने को "दासदास श्री वल्लभकुल के" कहते जरूर थे, किन्तु वह संकीर्णता की परिधि से बहुत दूर चले गये थे, और उस घोर प्रतिक्रियावादी समय में भी अपने यहा की स्त्रियो की स्वतन्त्रता की लालसा मे कहते थे,

"जब अंग्रेजी रमणी लोग...निज पतिगण के साथ प्रसन्न-वदन इधर से उधर...फिरती हुई दीखती है, तब इस देश की सीधी-सादी स्त्रियों की हीन अवस्था मुझको स्मरण आती है, और यही बात मेरे दुख का कारण होती है।"

शुक्ल जी के कथनानुसार[2]

"जिस प्रकार...पुराने खूसट उनके विनोद के मुख्य लक्ष्य थे, उसी प्रकार पश्चिमी चाल-ढाल की ओर मुंह के बल गिरने वाले फैशन के गुलाम भी...

...विदेशी अधडो ने उनकी आखों में इतनी धूल नही झोंकी थी कि अपने देश का रूप-रंग उन्हे सुझायी नही पड़ता। काल की गति

[1] नीलदेवी.

[2] हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ. ४५३, ४५५.

वे देखते थे। सुधार के मार्ग भी उन्हें सूझते थे। पर पश्चिम की एक-एक बात के अभिनय को ही वे उन्नति का पर्याय नहीं समझते थे।"

पश्चिम की एक-एक बात की, हमारे आज के १६५६ के दिल्ली के देवताओं और देवियों की तरह, अभिनय करने वाले अपने समय के रूसियों के बारे में पुश्किन कहता था :

"(उनको क्या कहा जाये) जो रूसी भाषा से अनभिज्ञ विदेशी लेखकों को इसलिए भोज देते हैं कि पर्यटन की टिप्पणियों में उनको स्थान मिल जाये।"

स. सिमोनोफ ने इन छिछले नक्कालचियों के ऊपर—जिनकी संख्या आज भी हमारी दिल्ली तथा दूसरी राजधानियों के ऊंचे स्थानों पर काफी मिलती है, और बाज वक्त जिनका अभिनय उपहासास्पद ही नहीं, असह्य भी हो उठता है—पुश्किन के प्रहारों के बारे में लिखा है :

"प्रथम पीतर के समय से पुराने रूस के कुछ लोगों में सभी विदेशी बातों की अंधी दासता तथा बुद्धिहीन अनुकरण बहुत प्रचलित था, जो कि रूस, रूसी जनता के लाभ की बात कभी भी नहीं था। यह जर्मनीकृत, फ्रेंचीकृत, अंग्रेजीकृत पुराना शासक गुट रूस की हर एक बात, यहां तक की रूसी साहित्य को भी घृणा की दृष्टि से देखता था..."

क्या ऐसे अंग्रेजीकृतों का हमारे भारत में अभाव है? क्या वही आज हमारे सिरमौर नहीं बने हुए हैं, जिनके लिए कि पुश्किन के समसामयिक रूसी शासकों की भांति अंग्रेजी और अंग्रेजियत सब कुछ और भारतीय संस्कृति, भारतीय जनता, भारतीय इतिहास, भारतीय साहित्य—जिसका एक महत्वपूर्ण भाग हमारा हिन्दी-साहित्य है—तुच्छ, हेय, सेकेण्ड-ग्रेड नहीं है?

कप्तान्स्कया दोचका (कप्तान की बेटी) में उसने ऐसे छिछले नक्कालचियों का बड़ा सुन्दर परिहास किया है। पुश्किन ने एक समसामयिक को फटकारते हुए लिखा था :[1]

"(क्या कहा) हमारा इतिहास नहीं है? मैं तुमसे कभी सहमत नहीं हो सकता...रूस की जागृति, उसकी शक्ति-वृद्धि, उसका एकता की ओर अग्रसर होना—क्या यह इतिहास नहीं है? मैं अपने सम्मान की शपथ करता हूं कि मैं दुनिया के किसी देश को अपने देश से बदलने को तैयार

[1] सोवियत लिटरेचर, १६४६/६, पृ. १४०.

नहीं हूं और अपने पूर्वजों को छोड़ कर किसी दूसरे इतिहास को अपना इतिहास कहने को तैयार नहीं हूं।

(नेपोलियन के आक्रमण के समय) मास्को का जलाना क्या हमारे हाथों का काम था ? यदि हां तो मुझे अभिमान है कि मैं रूसी हूं। इस महान त्याग को देख कर दुनिया आश्चर्यचकित होगी।"

और भारतेन्दु ने भी अपने देश की दासता को कितना असह्य माना था—

हाय वहै भारत भुव भारी, सबही विधि सों भई दुखारी।
हाय पंचनद, हा पानीपत, अजहुं रहे तुम धरनि विराजत।
हाय चितौर निलज तू भारी, अजहुं खरो भारतहिं मंझारो।

जार के निरंकुश शासन को (१८१६) उलटने के प्रथम प्रयासी दिसम्बरीय वीरों को सम्बोधित करते हुए पुश्किन ने लिखा था :

विश्वास करो साथी, आयेगी उषा।
सुख की प्रभास्वर घड़ी पुनः
और मग्न रूस निद्रा से जागेगा
और अत्याचारी के शक्ति-ध्वंस पर,
नाम हमारे होंगे अंकित विजयी।

१८८४ में भारतेन्दु की मृत्यु पर पं. बद्रीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' ने लिखा था—"अथयो हरिचन्द अमन्द सों भारतचन्द चहूं तम छाय गयो।"

१८८४ का भारत परम परतन्त्र था, वह अपने साहित्य-सूर्य के बारे में इतना ही कह सकता था।

६ जनवरी १८३७ के अपराह्न में २-४५ बजे पुश्किन आत्म-सम्मान के लिए प्रतिद्वन्द्वी की गोली का शिकार हुआ, उस समय कोल्सोफ ने लिखा था :

"अलेक्सान्द्र सेर्गेयेविच पुश्किन अब नहीं रहा, सूर्य कलेजे में बिंध गया।"

पुश्किन की कृतियां उसकी १५० जयन्ती के समय (१९४९) में १ करोड़ १० लाख छापी गयीं और १९१७ से अब तक सोवियत सरकार ने ७६ भाषाओं में उसकी साढ़े चार करोड़ प्रतियां छापी हैं। पुश्किन के बोरिस गदुनोफ, काकेशस का बन्दी, बख्शीसराय का निर्झर, युगेनी अनेगीन, पोल्तावा, कप्तान की बेटी जैसी अमर कृतियां हिन्दी रूप धारण करने की प्रतीक्षा में हैं और उसी प्रकार भारतेन्दु की कृतियां भारत दुर्दशा, नीलदेवी, अंधेर नगरी, काश्मीर कुसुम, बादशाह दर्पण, आदि भी हमारे साहित्यिक सम्मान बढ़ने के साथ रूसी में अनुवादित होंगी।

सरस्वती का प्रकाशन

बीसवीं सदी के आरम्भ मे सरस्वती का प्रकाशन हिन्दी के लिए एक असाधारण घटना थी, जिसका पता उस समय नहीं लगा, पर समय के साथ स्पष्ट हो गया। सरस्वती का नाम पहले-पहल मैंने आजमगढ़ जिले के निजामाबाद कस्बे में सुना। निजामाबाद कस्बा वही है, जहा पंडित अयोध्यासिंह उपाध्याय हरिऔध पैदा हुए, और वहा के तहसीली (मिडिल) स्कूल के प्रधानाध्यापक रहे। यह ख्याल नहीं कि नाम के साथ सरस्वती का वहां दर्शन भी मिला था। सरस्वती का माहात्म्य स्कूल से निकलने के बाद मालूम हुआ। १६१० ई. मे बनारस मे पढते समय किसी के पास सरस्वती देखी और माग कर उसे पढ़ा भी। मालूम नहीं उसका कितना अंश मुझे समझ में आता था। मैं मूलतः उर्दू का विद्यार्थी था। हिन्दी लोगों के अनुसार बिना वर्णमाला सीखे अपने ही आ गयी। और मैं गाव में लोगों की चिट्ठियां हिन्दी में लिखने लगा।

हिन्दी, अंग्रेजी सरकार की दृष्टि मे एक उपेक्षित भाषा थी। सरकारी नौकरियों के लिए उर्दू पढना अनिवार्य था। सरकारी कागज-पत्र अधिकांश उर्दू मे हुआ करते थे। इसी पक्षपात के कारण मुझे उर्दू पढायी गयी। बनारस मे संस्कृत पढने लगा था। उर्दू के साथ अगर संस्कृत भी पढ़े, तो हिन्दी अपनी भाषा हो जाती है।

दो-एक बरस बाद मैं बनारस छोड़ कर बिहार के एक मठ में साधु हो गया। उस समय मैंने पहला काम यह किया कि सरस्वती का स्थायी ग्राहक बन गया। इसी से मालूम होगा कि हिन्दी के विद्यार्थी के लिए सरस्वती क्या स्थान रखती थी। उसके बाद शायद ही कभी सरस्वती से मैं वंचित होता रहा, देश हो या विदेश। आरम्भ में मुझे यह मालूम नहीं था कि सरस्वती के सम्पादक पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी उसके प्राण हैं। इंडियन प्रेस की कितनी ही पुस्तकें पाठ्य पुस्तकों में लगी हुई थीं। इसलिए हिन्दी का हर एक विद्यार्थी इंडियन प्रेस को जानता था। सरस्वती इंडियन प्रेस से छपती थी। उसका कागज, उसकी छपायी, उसके चित्र आदि सभी हिन्दी के लिए आदर्श होते थे, यह कुछ दिनों बाद मालूम हुआ। और यह तो बहुत पीछे मालूम हुआ कि गद्य-पद्य लेखों को संवारने में द्विवेदी जी को काफी मेहनत पड़ती थी। भारत की सबसे अधिक जनता की भाषा की यह मासिक पत्रिका इतने सुन्दर

रूप में निकलती थी कि जिसके लिए हिन्दी वालों को अभिमान हो सकता था। सरस्वती ने अपना जैसा मान स्थापित किया था, उसके सम्पादक ने भी वैसा ही उच्च मान स्थापित किया था। नही तो हिन्दी से बंगला और कुछ दूसरी भाषाएं इस क्षेत्र में जरूर आगे रहती।

सरस्वती हिन्दी साहित्य के सारे अंगों का प्रतिनिधित्व करती थी। गद्य में कहानियां, निबंध, यात्राएं आदि सभी होते। पद्य मे स्फुट कविताएं ही हो सकती थी, क्योंकि विस्तृत काव्य को कई अंकों में देने पर वह उतना रुचिकर न होता। मालूम ही है कि हिन्दी मातृभाषा तो हममे से बहुत थोड़े से लोगो की है। मातृभाषाए लोगों की मैथिली, भोजपुरी, मगही, अवधी, कनौजी, ब्रज, बुंदेली, मालवी, राजस्थानी आदि भाषायें हैं। इनमे से कौरवी को छोड़ कर बाकी सभी हिन्दी से काफी दूर है। इस कारण हिन्दी व्याकरण शुद्ध लिखना बहुतों के लिए बहुत कठिन है। इन २२ भाषाओ के बोलने वालो को शुद्ध भाषा लिखने, बोलने, पढ़ने का काम सरस्वती ने काफी सिखाया और सब में समानता कायम की। सरस्वती का यह काम प्रचार की दृष्टि से ही बड़े महत्व का नही था, बल्कि इससे व्यवहार में बहुत लाभ हुआ।

सरस्वती-युग से पहले यह बात विवादास्पद चली आती थी कि कविता खड़ी बोली (हिन्दी) मे की जाये या ब्रज भाषा में। गद्य की बोली खड़ी बोली हो, इसे लोगों ने मान लिया था। लेकिन पद्य के लिए खड़ी बोली को स्वीकार कराना सरस्वती और उसके सम्पादक पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी का काम था। बीसवी सदी की प्रथम शताब्दी में अब भी उत्तर प्रदेश के पूर्वांचल में लोग ब्रज भाषा में कविता करते थे। उनकी ब्रज भाषा कैसी होती थी, इसे बतलाना कठिन है, क्योंकि भोजपुरी भाषा-भाषी ब्रज भाषा के इतै, उतै जैसे कुछ शब्दों को छोड़ कर अधिक नही जानते थे। बहुप्रचलित महाकाव्य रामचरितमानस था, जो अवधी का था, जिसका ज्ञान कुछ अधिक हो सकता था। ब्रज भाषा की कविताएं बहुत कम प्रचलित थी। तो भी आग्रह ब्रज भाषा मे ही कवित्त या सवैया कहने का था। सरस्वती ने यह भाव मन में बैठा दिया कि यदि खड़ी बोली में गद्य, कहानी, निबंध लिखे जा सकते है और खड़ी बोली में उर्दू वाले अपनी शायरी कर सकते है, तो कविता भी उसमें हो सकती है। श्री मैथिलीशरण गुप्त खड़ी बोली के आदि कवियों में है। उनको दृढ़ता प्रदान करने वाले द्विवेदी जी थे।

प्रायः चार दशकों तक सरस्वती का सम्पादन ही द्विवेदी जी ने नही किया, बल्कि इस सारे समय मे—साहित्यिक भाषा निर्माण के काम में—द्विवेदी जी ने चतुर माली का काम किया। आगे आने वाली पीढियां सरस्वती और द्विवेदी जी के इस निर्माण कार्य को शायद भूल जायें। किसी भाषा के बारे मे किसी एक व्यक्ति और एक पत्रिका ने उतना काम नही किया, जितना हिन्दी के बारे मे इन दोनो ने किया। ●

साहित्यिक प्रगति में बाधाएं

हिन्दी साहित्य के लिए कितना विशाल क्षेत्र है। अभी भी हिमालय की चोटियों से लेकर बस्तर (मध्य प्रदेश) और जैसलमेर से लेकर पूर्णिया तक का विशाल भाग हिन्दी को न सिर्फ साहित्यिक भाषा मानता है, बल्कि कितने ही लोग तो उसके गर्भ में आगे बढ कर उसे मातृभाषा कहने लगते हैं। इतना विशाल भू-भाग और वहां के सोलह सत्रह करोड़ आदमी जिसके लिए मौजूद हैं, ऐसी अवस्था में हिन्दी की किसी अच्छी पुस्तक के पांच-दस हजार के संस्करण तो हाथों-हाथ निकल जाने चाहिए थे। पुस्तकों की अधिक बिक्री से लेखकों का मूल्य बढता है और "दक्षिणयाश्रद्धामाप्नोति" के अनुसार लेखक और भी अधिक अपनी लेखनी के चमत्कार को दिखला सकते हैं। लेकिन हम देखते है कि बंगाल या महाराष्ट्र में उन भाषाओं के ग्रंथों की जितनी जल्दी बिक्री होती है, हिन्दी में वह नही देखी जाती। यह ठीक है कि पुस्तकों की अधिक खपत के लिए यह जरूरी है कि उस भाषा के पढने वाले संख्या मे अधिक हों। यदि हिन्दी क्षेत्र में प्राइमरी शिक्षा अनिवार्य कर दी जाय, तो आज से दस वर्ष के भीतर बीस गुना अधिक ऐसे पठित लोग होंगे जो कि स्कूली शिक्षा के बाद भी पुस्तकों के अध्ययन को जारी रखें। यदि इस प्रकार की साहित्यिक रुचि वाले लोगों की संख्या पचास गुना भी हो जाय, तब भी यह आशा नहीं रखनी चाहिए कि हरेक आदमी पुस्तक खरीद कर पढने लगेगा और उससे पुस्तकों की माग बढ जायेगी। खरीदने के लिए हरेक पाठक के पास नून-तेल-लकड़ी के बाद भी महीने में दस-बीस रुपये होने चाहिए। रूस में पांच लाख और दस लाख के संस्करणों की पुस्तकें भी क्यों छः महीने के भीतर ही दुर्लभ हो जाती हैं? उसका कारण यही है कि वहा कोई भूखा नही है, जेब मे कम-बेशी पैसा जरूर रहता है। कोई ऐसा नहीं है जिसकी जेब खाली हो। हमारे देश में चार साल की अनिवार्य शिक्षा कर दीजिए और हरेक आदमी को भूखा मरने से बचा कर आवश्यक खर्च के ऊपर दस रुपया महीना दे दीजिए, तो यहां भी दो हजार के संस्करण को निकाल कर दस वर्ष रोते रहने की जरूरत नही पड़ेगी। इसलिए पूर्ण तौर से साहित्यिक प्रगति तो तेजी के साथ तभी होगी, जब शिक्षा और जीवन तल को आज के स्तर से ऊपर कर दिया जाय।

लेकिन ऐसा होने पर भी एक और बड़ी कठिनाई सामने आयेगी। यदि

चार वर्ष की शिक्षा हरेक भारतीय लड़के-लड़की के लिए अनिवार्य कर दी जाय, तो स्कूली पाठ्य पुस्तकों की ही इतनी जरूरत पड़ेगी कि आज-कल हमारे यहां जितना कागज पैदा होता है, वह पर्याप्त नही होगा। लेकिन कागज के खर्च के लिए केवल पाठ्य पुस्तकें ही जिम्मेदार नही होंगी, सरकार को भी और प्राइवेट कारबार करने वालो को भी, भारी मात्रा मे कागज की आवश्यकता होती है। इसके बाद अखबारों की मांग पर पहले ध्यान देना होगा। अगर एक भी साहित्यिक पुस्तक न छापी जाय, तब भी आज एक लाख से कम की जो हमारी वार्षिक उपज है, उससे दुगने कागज का खर्च स्कूली पुस्तकों, सरकारी और गैर-सरकारी काम और अखबारों में लगेगा। इसका अर्थ यह है कि तब हमारी कागज की मिलों की संख्या और उपज चौगुनी-पंचगुनी करनी पड़ेगी। आज-कल जिस गति से हमारा राष्ट्र आगे बढ़ रहा है, उससे तो यही कहना पड़ेगा कि हनोज देहली दूरस्त।

हमारी साहित्यिक प्रगति में एक और बड़ी बाधा है। वह है साहित्य के प्रचार और प्रकाशन का काम जिन व्यक्तियों और संस्थाओं के हाथ मे है उनमें स्थायित्व नही देखा जाता। एक पत्रिका निकलती है, ऊंचा स्तर रखने की कोशिश करती है। उसे लेखकों का सहयोग आसानी से मिल जाता है। यद्यपि चाहे कितने ही मालदार मालिक ने उसे निकाला हो तो भी वह आशा रखती है कि लेखक ऑनरेरी काम करेंगे। धीरे-धीरे उसकी कुछ ख्याति बढने लगती है। खरीदने वाले पाठक इतनी जल्दी प्रभावित नही होते हैं, क्योंकि उनको कड़ुवा अनुभव रहता है—बहुत से ऐसे होनहार शिशु हमारे साहित्यिक क्षेत्र मे अकाल ही काल-कवलित होते देखे गये है। इसलिए सिनेमा की तरह पाठक पत्रिका की खबर पाते ही दौड़ नही पड़ते है। मैं उन पाठकों की बात कहता हूं, जिनके पास पैसा है। यदि पत्रिका के मालिक साल दो साल धैर्य रखने के लिए तैयार हों, तो घाटे का सवाल आसानी से हट जाता है। फिर उसके बाद स्थिरता पूर्वक आगे बढ़ने का समय आता है, इस समय मालिको को अधिक लोभ ग्रस्त करने लगता है, चाहे वह पत्रिका का दाम बढ़ाते है, या घटिया कागज लगाते है, अथवा चित्र रद्दी या बिल्कुल ही नही लगाते, अथवा जिस संपादक की योग्यता से फायदा उठा कर उन्होंने अपनी पत्रिका की नीव मजबूत की, उसे धता बता देते है—अभी हाल ही में यह बात एक पत्र के योग्य सपादकों के साथ की गयी है। यदि कुछ लेखको को पत्रिका कभी-कभी पुरस्कार देती थी, तो उसको भी बन्द कर देती है। अब बतलाइए कि ऐसी पत्रिका के प्रति सुलेखकों की सहानुभूति और सहायता कैसे मिल सकती है? साहित्यिकों का विश्वास उस पर कैसे हो सकता है? और पाठक इन सब विचारों से प्रभावित हुए बिना कैसे रह सकते हैं? इसकी जगह पर यदि पत्रिका के स्वामी, संपादक

को केवल भाड़े का टट्टू न समझते और उन्हें सम्मान और प्रोत्साहन देते, लेख, कागज, चित्र, छपाई आदि मे थोड़ा स्तर को और ऊचा करते जाते, तो इसमें शक नही कि पत्रिका दस वर्ष में एक संस्था का रूप ले लेती। उसके द्वारा साहित्य का उसी तरह कल्याण होता, गौरव बढता, जिस तरह दूसरे देशों मे देखते हैं। योरप और अमरीका मे कितने ही ऐसे पत्र और पत्रिकाए है, जिन्हे निकलते डेढ़-डेढ सौ वर्ष हो गये और आज भी उनकी धाक पहले जैसी ही नही है, बल्कि उससे भी आगे बढ़ी है। विलायत के प्रतिक्रियावादी दैनिक "टाइम्स" को ले लीजिए। चाहे आप उसके विचारों से सहमत न हो, लेकिन ज्ञातव्य बातों को देने मे आज भी वह प्रमुख स्थान रखता है।

हमारे यहां दैनिक पत्रों को कुछ सुभीता हो गया है। शिक्षा की कमी और पैसे के अभाव के बाद भी समाचार पत्रों के पढ़ने का शौक लोगों को हो गया है, इसलिए उनकी खपत अधिक है। लोग बहुत कुछ समाचारों के लिए इन पत्रों को खरीदते हैं। लेकिन हिन्दी के दैनिक जिस बे-सरोसामानी के साथ सपादित किये जाते हैं, उसके लिए भी अच्छे प्रेस और काम करने वालो के लिए दस लाख की पूंजी चाहिए। अब वह जमाना चला गया, जब कि गणेश-शंकर विद्यार्थी अपने हृदय, कलम, और कुछ सहानुभूति रखने वाले मित्रों के बल पर पत्र निकाल लेते और उसे आगे चल कर दैनिक बनाते। शिकायत की जाती है कि आज हमारे सभी अच्छे समाचार-पत्र करोड़पतियो की मुट्ठी मे चले गये। अच्छे-अच्छे अखबार तो नही कहना चाहिए, क्योंकि जिन मालिकों के उसी प्रेस से अंग्रेजी दैनिक निकलते है, और हिन्दी भी, वे हिन्दी स्टाफ पर चौथाई भी खर्च करने के लिए तैयार नही है। और टाइप को छोटा करके वह उसके बराबर नही, तो उसकी पौना सामग्री तो दे सकता है। कई दैनिक पत्रों के मालिको से मैंने जब इस बात को कहा, तो उन्होने कहा कि इसके लिए तो स्टाफ बढाना पड़ेगा। पत्रों मे बहुतो को अपने पैरों पर खड़े होने और मालिकों के लिए लाभदायक बनने मे हम इस माग को पूरा नही कर रहे हैं, क्योंकि ऐसे दो-एक ही हिन्दी दैनिक होंगे, जिनका स्तर हम ऊचा कह सकते है, यह कह सकते है कि उन्होंने अपने स्तर को नीचा होने नही दिया। नहीं तो बाकी नयी-पुरानी खबरो के सूचीपत्र मात्र है। उनकी सफलता इसीलिए वैसी है जैसी कि सिनेमा फिल्मो की सफलता। लोग समाचार जानना चाहते है, उससे उनका मनोरजन होता है। बाजार में जो कुछ भी मिलता है, उसी पर उनको संतोष करना पड़ता है।

हमे अपने पत्र-पत्रिकाओं को जहां स्थायित्व देने की आवश्यकता है, वहां प्रकाशन संस्थाओं को भी साहित्य क्षेत्र में स्थायी स्थान ग्रहण करने की आवश्यकता है। कितने ही प्रकाशन बड़े अच्छे उद्देश्य के साथ आरम्भ होते हैं,

उनमें से कितने तो बिना आवश्यक पूंजी के ही काम आरम्भ करते हैं, लेकिन धीरे-धीरे वे अपने पैरों पर खड़े हो जाते हैं। अगर पहले ही उद्देश्य के साथ वह आगे बढ़ें तो इसमें शक नहीं कि साहित्य की बड़ी सेवा कर सकते है। एक समय उन्होंने ऐसा किया भी है। किन्तु पीछे वह मार्गभ्रष्ट हो जाते है। अपने पैरो पर खड़े होने से ही उनको संतोष नही होता। प्रकाशन में से पच्चीस सैकड़ा लाभ को पूंजी मे परिणत करने से उन्हें संतोष नहीं होता है। उनकी नजर सट्टेबाजों की ओर जाती है और दूसरे दिन ही वह करोड़पति नही तो लखपति बनना चाहते हैं। वह देखते है कि टेक्स्ट बुक अगर छापे, तो दस-बीस हजार या अधिक भी रिश्वत चाहे भले ही देनी पड़े, लेकिन वह मालामाल हो सकते हैं। बहुत से अच्छे उद्देश्य रखने वाले हमारे प्रकाशक इस तरह फिसल गये। आज दर्जनों ऐसे प्रकाशक मिलेंगे, जो आंखों के देखते-देखते दस-बीस लाख के आदमी हो गये। साहित्य द्वारा उन्होंने इतना धन कमाया। लेकिन वह गुसाईं जी की पंक्ति "जिन प्रति लाभ लोभ अधिकाई" क्या झूठी हो सकती है? एक बार का फिसला हुआ आदमी फिर संभल नही सकता। हमारे प्रकाशकों के बारे में जब हम चारों ओर यही देखते हैं, तो कैसे आशा रख सकते है कि उनमें ऊंचे स्तर के स्थायित्व रखने वाले प्रकाशक तैयार हो सकते हैं?

वैयक्तिक प्रकाशकों की जो बात है, वही बात साहित्यिक संस्थाओं पर तो नहीं घटित होती, उनके बारे में यही कहा जा सकता है कि अभी संस्थावाद हमारे देश में जड़ नहीं जमा पाया। इसलिए संस्थाएं कुछ समय तक अच्छी तरह काम करके फिर अनेक कारणों से उत्पन्न होने वाले वैमनस्यों का शिकार बनती हैं, जिसके कारण वे भी एक ठोस, विशाल साहित्यिक प्रासाद के रूप में परिणत नहीं हो पातीं। ●

लोकगीत और रेडियो

सभी कला और संस्कृति संबंधी महान और मौलिक देनों का उद्गम लोकमानस और लोक-प्रतिभा है। आदिम उद्गम होने के कारण यह नहीं समझना चाहिए कि उसका सौन्दर्य और रस-प्रवाह अकिंचन है। वह गंगोत्री की तरह स्वच्छ, सुन्दर और मधुर है, यह अपनी भाषा के सुन्दर गीतों को सुनने वाला हर व्यक्ति बतला सकता है। हर एक उन्नत संस्कृत समाज का लोकगीतों के प्रति बहुमान बतलाता है कि संस्कृति के स्तर के उन्नत होने के साथ इस ओर ध्यान आकर्षित होना अनिवार्य है, पर स्वाभाविक आकर्षण और नकलचीपन में बड़ा अन्तर है। हमारे रेडियो खास कर हिन्दी के क्षेत्र के लोकगीतों के प्रसारण में अपने इसी तरह के नकलचीपन का परिचय देते है। यह बाहर के तज्ञ लोगों मे हमें उपहास का पात्र बना रहा है। वह समझता है, रेडियो के आने से पहले ये गीत और उनके गाने उपेक्षित थे, हमने उन्हे रेडियो द्वारा प्रसारित करके उन पर बड़ा उपकार किया है, उन्हे उबार लिया है। इससे बढ कर बेतुकी बात नही कही जा सकती। रेडियो प्रसारक उपकार या प्रसार के ख्याल से ऐसा नही कर रहे हैं, बल्कि श्रोता उन्हें बहुत पसन्द करते हैं, इसलिए वह उन्हे बेढंगे तौर से गवा रहे है।

कच्ची संस्कृति नकलची होती ही है। पहले तो हमारे संस्कृतमान्य नयी दुनिया की तड़क-भडक के सामने चौंधियाये व्यक्ति लोकगीतों के महत्व को मानने के लिए तैयार ही नही थे, वे उन्हें गंवारू कह कर नाक-भौं सिकोड़ते थे, पर जब देखा कि लोक-कला पर हमारे देश के रवीन्द्र जैसे अत्यन्त संस्कृत और प्रसिद्ध पुरुष भी मुग्ध हैं, तो उन्होंने उनका अनुकरण करना फैशन समझा। पर उनमें न वास्तविक कला-रुचि थी, न वैज्ञानिक दृष्टिकोण। इस-लिए उन्होंने अपने अनुकरण मे हलकापन दिखलाने के सिवा कुछ नहीं किया। हा, आज इतना फर्क अवश्य देखा जाता है कि लोक-संस्कृति को गंवारू कह कर नाक-भौं सिकोड़ने वालो के दिन लद गये और शिक्षित वर्ग भी खुल कर उनका स्वागत कर रहा है।

लोक-संस्कृति अपने शुद्ध रूप में गांवों में विराजती है, नगर मे अक्सर उसका विरूप ही देखा जा सकता है। तो भी, जिन परिवारों की जड़ गाव से बिलकुल उखड़ नही गयी, वे अब भी अपनी लोक-संस्कृति को अनेक अंशों

में बनाये रखे हैं। हां, जो आकाश-बेल की तरह जमीन से कोई संबंध न रख कर अधर में त्रिशंकु बने हुए हैं, वे बेचारे लोक-संस्कृति के स्वागत की धूम में अपने को खोये-खोये पाते हैं। ऐसे लोगों में उत्तरी भारत के कश्मीरी पंडित, मुसलमानों का पुराना सामंत वर्ग और उनके लग्गू-भग्गू सम्मिलित हैं। दुर्भाग्य से हमारे उत्तरी भारत के हर एक मसले में पंच बनने के लिए ये ही लोग तैयार रहते हैं। हिन्दी उर्दू के सवाल और भाषानुसार प्रांतों की रचना के संबंध में जो इतना गोलमाल देखा जा रहा है, उसका कारण मूलतः यही वर्ग है। हिन्दी क्षेत्र से बाहर ये लोग उतना दखल देने में असमर्थ हैं, इसलिए वहां बातें उतनी उलझायी नही जा सकी। लोक-संस्कृति और विशेष कर लोकगीतों का संबंध लोक-भाषा से है, जिसकी ओर उपेक्षा रखने पर हम उनके महत्व को नही समझ सकते।

दूसरे प्रदेशों के लोकगीतों के साथ अत्याचार नहीं हो रहा है, यह बात मैं नहीं कहता। पर यह तो साफ देखा जाता है कि उनके ऊपर वैसी भोथरी छुरी नहीं चलायी जाती, जैसी हिन्दी क्षेत्र के लोकगीतों के ऊपर। जैसा ही नाच वैसी ही कछनी काछने की बात हमारे यहां मशहूर है। लोकगीतों के गाने के समय सारी दुनिया में उन्ही बाजों का इस्तेमाल किया जाता है, जिन्हें जन-साधारण इस्तेमाल करते हैं। पर हमारे यहां के रेडियो तानाशाह उसके लिए पूरे आधुनिक ऑर्केस्ट्रा को इस्तेमाल करने से बाज नही आते।. और न हुआ तो हारमोनियम तो जरूर लगा देते है। इन लोगों को क्या कहा जाय, जो यह समझने को तैयार नहीं हैं कि लोकगीत कितनी ही बार बिना बाजे के गाये जाते हैं और वह बहुत सरस और मधुर लगते हैं। जिन्होने चक्की के (जंतसारी) गान सुने हैं, वे बतला सकते है कि चक्की की घरघराहट में तरुण, मधुर कंठों से गाये जाने वाले ये गीत कितने मधुर मालूम होते हैं! वे व्यग्य करते हुए कह सकते हैं—तब तो आप हमारे स्टूडियो मे चक्की भी पिसवाना चाहेंगे? हां, जरूर। यदि आप चक्की का गाना रेडियो पर सुनाना चाहते हैं, तो वह करना ही होगा। दुनिया के दूसरे, आप से कहीं अधिक उन्नत और पारखी देशों मे, ऐसा किया जाता है। कच्ची नकल से आप लोकगीतों के साथ न्याय नही कर सकते। किसी भी लोकगीत के गाये जाने के समय हमें उन्ही वाद्य-यंत्रों को इस्तेमाल करना चाहिए, जिन्हे वहा के जन-कलाकार इस्तेमाल करते हैं।

लोकगीतो के गवाने में एक और धांधली रेडियो वाले कर रहे हैं—लोक गायिकाओं का ढूढना उतना मुश्किल नही है, पर अपने मित्रों और परिचितों पर उपकार जताने के. लिए बहुधा ऐसे गायकों और [illegible] को यह काम दिया जाता है, जो लोकगीतों की परम्परा मे [illegible] हैं, अथवा [illegible]

भी उनके दिमाग में उस युग के कीटाणु मौजूद हैं जब लोक-संस्कृति को गंवारू कह कर उसका मजाक उड़ाया जाता था। हमारी उत्तर-भारतीय भाषाओं और बोलियों में अरबी फारसी के बहुत से शब्द ले लिये गये हैं। उनको निकाल बाहर करने की बात करना निरी हठधर्मी होगी। जन-साधारण ने जिन शब्दों को अपना लिया, वे अब विदेशी नहीं रहे; हा, पर उसी रूप में, जिसमें जनता ने उन्हें लिया है। यदि उन शब्दों के उच्चारण में आप शीन-काफ लगाना चाहते हैं, तो एक बड़ी मर्यादा का उल्लंघन करते हैं। फिर वे स्वदेशी बन गये शब्द विदेशी हो जाते हैं। अनेक बार हम लोकगीतों के गाते समय शीन-काफ घुसाने का प्रयत्न देखते हैं, जो सहृदय सुनने वालों के कान में शूल की तरह चुभता है। यदि उनके गाने का काम लोक-गायिकाओं को दिया जाता, तो कभी ऐसा भयंकर अनौचित्य नहीं होने पाता। कुछ गायिकाएँ तो ऐसी भी है, जिनके घरों में वह बोली बोली जाती है और जहा तक बड़ी-बूढ़ियों का संबंध है, वे उसे बडे शुद्ध रूप में बोलती हैं, फिर कोई वजह नहीं कि ऐसी शिक्षित तरुण गायिकायें गाने में लोक-उच्चारण का ध्यान न रखें। जिन्हें उनका परिचय ही नहीं, उन्हें लोक-गीतों के गाने का अधिकार नहीं, जब तक कि निर्देशक इस बात को उन्हे हृदयंगम न करा दें। शायद बहुत से निर्देशक नीम-हकीम हैं। वे स्वयं शीन-काफ के फेर में हैं। फिर वे दूसरों को क्या समझा सकते है ? वैद्य को पहले अपनी दवा करनी चाहिए !

कितने ही लोकगीत केवल स्त्रियों के गाने के हैं, जिन्हे पुरुष नहीं गाया करते। वैसे तो जिन गीतों में अत्यन्त कोमल स्वर की आवश्यकता है, उन्हे महिलाओं को ही गाना चाहिए। पर जब ऐसे गीतों के गाने में अपने कर्कश स्वर के साथ पुरुष गाने वाले शामिल हो जाते है, तो कुरुचि की हद हो जाती है। कोई नहीं कहता कि गीतों के सिखलाने और अच्छी तरह रिहर्सल कराने मे योग्य पुरुष शिक्षकों का सहारा न लिया जाय, किन्तु उनको हरगिज इसका अधिकार नहीं होना चाहिए कि जिस तरह गर्दभ स्वर वाले उस्तादों ने शास्त्रीय संगीत का सत्यानाश कर दिया, उसी तरह ये 'कलाकार' लोक-संगीतों को चौपट कर डालें। ये नीम-हकीम लोकगीतों की आत्मा का हनन करने में सबसे अधिक सिद्धहस्त मालूम होते है। चाहे इनमे गवारूपन कूट-कूट कर भरा हो, पर उसे ढाकने के लिए शीन-काफ की फिकर इन्हे बहुत रहती है। इनका बस चले तो अपने को साक्षात तानसेन का अवतार साबित करने के लिए ये लोकगीतों को शास्त्रीय संगीत के भद्दे ढाचे मे ढालने से भी बाज न आयें !

लोकगीतों को लेने मे भी बहुत बेपरवाही बरती जाती है। कभी-कभी तो असली गीतों की जगह बनावटी गीत गाये जाते हैं, जिनका फूहड़पन

बिलकुल नंगा दिखायी पड़ता है। लोक-काव्य का अपना अलग काव्यानुशासन होता है; वह अलंकारों की भद्दी भरमार को सहन नहीं करता। उसके रस, अलंकार सरल-सहज होते है, पर साथ ही वह हर एक ऐरे-गैरे नत्थूखैरे के लिए सुगम नहीं है। हजारों सुन्दर लोकगीत अब भी जनगण के कंठ में सुरक्षित हैं। उनमें से कुछेक के संग्रह भी प्रकाशित हुए हैं। लोकगीतों के प्रोग्राम बनाते वक्त जो इतना भी ध्यान नही रख सकते, या उनका ज्ञान नही रखते, वे कभी अपने कर्तव्य का ठीक से पालन नहीं कर सकते। वस्तुतः रेडियो को यह एक बड़ा सुनहला अवसर मिला था, जब कि वह वास्तविक लोकगीतों के प्रसार के सिलसिले में उनका संग्रह भी कर सकता था। पर सभी जगह तो कुरसी पर बैठे-बैठे आराम से काम करने की आदत हो गयी है। रेडियो मंत्रालय को भी कागजी घोड़े दौड़ाना छोड़ कुछ सोचने की फुर्सत नहीं है।

लोकगीतों के प्रसार या संग्रह का काम तभी ठीक से हो सकता है, जब कि हर एक लोकभाषा क्षेत्र में एक-एक रेडियो स्टेशन हो। मंत्रालय एक-एक क्षेत्र मे दो-दो रेडियो स्टेशन बनाने के लिए तैयार है, किन्तु उसे भाषा-नुसार देने के लिए तैयार नहीं है। अवधी क्षेत्र बहुत विशाल है, यदि उसमें इलाहाबाद और लखनऊ के दो स्टेशन हों, तो अनुचित नहीं; पर पास में भोजपुरी के विशाल क्षेत्र की ओर ध्यान भी न जाय, यह कितनी अन्यायपूर्ण उपेक्षा है। भोजपुरी क्षेत्र लोकगीतों और लोक-कलाकारों की खान है। बनारस—उसकी स्वाभाविक राजधानी—में एक से एक गुणी मौजूद है। क्या बनारस इसका हकदार नहीं समझा गया? और जगहों मे रेडियो स्टेशनों को दोहराने की जगह बनारस, मथुरा या आगरा, उज्जैन, दरभंगा, अलमोड़ा, गढ़वाल, शिमला, ग्वालियर की ओर ध्यान दिया जाना जरूरी था। पर यहाँ तो पूरी अंधेर नगरी बसी हुई है। ●

साहित्यकार का दायित्व

अंग्रेज पत्रकारो ने बड़े आश्चर्य और खेद के साथ इसी दिल्ली में[1] देखा कि रूसी नेताओं के स्वागत करने के समय पोस्टरों और तोरणों-लेखो में अंग्रेजी का पूरी तौर से वायकाट किया गया है, और हिन्दी तथा मेहमानों की भाषा रूसी को ही वहां स्थान दिया गया था। अंग्रेजो ने तो अपने इन भावो को अपने अखबारों मे व्यक्त किया, किन्तु अंग्रेजी के हिमायती काले साहबों की छाती पर सचमुच ही उस समय साप लोट रहा था।

यदि आज दिल्ली के धनी-धोरी हिन्दी की उपेक्षा या विरोध कर रहे हैं, तो यह उसके लिए कोई नई बात नही है। बारहवी शताब्दी के अंत में दिल्ली विदेशी विजेताओं की राजधानी बनी, तब से जब तक कि अंग्रेजों का इस पर अधिकार नही हो गया, यानी अठारहवी सदी के उत्तरार्ध तक प्राय: छ: शताब्दियों तक, दिल्ली के धनी-धोरियो को हिन्दी से कोई वास्ता नही था। या वास्ता था, तो बाजार मे साग-सब्जी खरीदने या नीच समझे जाने वाले लोगों से टूटी-फूटी भाषा में बोलने भर का। उस वक्त हिन्दी नही, बल्कि फारसी शासन की भाषा थी। उसी में फरमान निकलते थे, उसी मे सरकारी काम-काज होता था। उसी में लिखे ग्रंथों को पुरस्कृत किया जाता था और उसी के थर्ड-रेटी कवियों को 'मलिकुश्शोअरा' बनाया जाता था। थर्ड-रेटी मैं जान-बूझ कर कह रहा हूं, क्योंकि छ: शताब्दियों तक दिल्ली पर फारसी की हुकूमत रहते भी, खुसरो और एक-दो ही हमारे देश के फारसी के कवियो को, फारसी की दुनिया गिनने के लिए तैयार है। अपने मुह मिट्ठू बनने से कुछ नहीं होता। हाल मे हमारे यहा के एक महाकवि ने फारसी में कविता की थी। उनके उपलक्ष में हमारे देश के प्रतिनिधि तेहरान में कोई अच्छी-खासी साहित्य-गोष्ठी मनाने का आयोजन करना चाहते थे। इसकी ओर उपेक्षा देख कर मैंने वहा के एक विद्वान से जब पूछा, तो उन्होंने कहा, ऐसी फारसी कविता करने वाले हमारे एक शहर मे बावन गडे मिल सकते हैं। उनका यह कहना यथार्थ का अपलाप करना था, यह मैं मानता हू, लेकिन फारसी कविता की कसौटी

[1] दिल्ली प्रान्तीय हिन्दी साहित्य-सम्मेलन १९५५ के वार्षिक अधिवेशन पर आयोजित साहित्य परिषद के सभापति पद से दिये गये भाषण से। —स.

वह हो सकते हैं, जिनकी फारसी अपनी भाषा है, हम और आप नहीं। हमारे उन महाकवि ने भक मारा, जो परायी भाषा में उन्होंने कविता की। गालिब को किसी ने ठीक ही सलाह दी और उन्होंने मान भी ली कि—मियां फारसी छोड़ो, उसमें कभी तुम नाम नहीं कमा सकते, अपनी भाषा को अपनाओ। गालिब का दीवान फारसी में भी है। लेकिन वह अपनी हिन्दी—या कह लीजिए फारसी लिपि में लिखी जाने वाली हिन्दी—की कविता के लिए अमर हैं।

यहां दो शब्द उर्दू के बारे में भी मैं कह दूं। उर्दू हमारी भाषा है, हिन्दी की एक शैली है, जिसमें फारसी-अरबी के शब्द अधिक इस्तेमाल किये जाते हैं। दूसरी भाषा और उसके बोलने वालों के घनिष्ट सम्पर्क मे आने पर शब्दों का ऐसा लेन-देन सभी देशों और कालों मे हुआ है। शुद्ध देववाणी संस्कृत भी इससे बरी नहीं है। केन्द्र जैसे शब्द ग्रीक भाषा के हैं। आज यह कहने पर भी लोगों को आश्चर्य होता है। फारसी बोलने वाले तथा अरबी में अपने धर्म ग्रन्थो को पढ़ने वाले, जब इस देश में शताब्दियों तक रहे और अन्त में लोगों में घुल-मिल गये, तो फारसी-अरबी शब्दों का हमारी भाषा में आ जाना कोई आश्चर्य नहीं है। हां, यह जरूर है कि कोई भी भाषा एक सीमा तक ही शब्दों को उधार ले सकती है। यह नहीं हो सकता कि नब्बे प्रतिशत उधार शब्द हों और दस असली भाषा के। हम समझते हैं कि इसमें उर्दू वालों ने गलती की, जिसका परिणाम यह हुआ कि उसका समझना आम लोगों के बूते के बाहर की बात हो गयी। पर इसे तो हमारे भावी साहित्य-कारों को सोचना होगा।

जो अमर साहित्यकार उर्दू मे लिख चुके हैं, उनकी कृतियों को हम बदल नहीं सकते और न उन्हें छोड़ सकते हैं। शिष्टाचार और किसी को खुश करने के लिए नहीं, बल्कि हमें दिल से उर्दू की महान विभूतियों को अपना समझना होगा। अब तो सुझाव देने की भी जरूरत नहीं है। गालिब, नजीर, अकबर आदि की उर्दू कृतियां नागरी अक्षरों में छप चुकी है और लोग उन्हें हाथों-हाथ अपना रहे हैं।

इसी दिल्ली के श्री गोयलीय जी ने शेर-ओ-शायरी, शेर-ओ-शखुन जैसे—विस्तृत परिचय के साथ—उर्दू कवियों के संग्रह निकाले, जिसे हमारे पाठकों ने खूब अपनाया है। हम चाहते हैं कि उर्दू की कोई महत्वपूर्ण कृति नागरी अक्षरों में छपे बिना नहीं रहे। यह कोई प्रश्न नहीं है कि उर्दू की दुरूहता के कारण हिन्दी जन-साधारण उसको अपना नहीं सकेंगे। आखिर अपने प्रदेशों और विशेषज्ञों से भिन्न लोगों के लिए डिंगल, व्रज और मैथिली कविताओं के बारे मे भी यही बात है। हिन्दी जन-साधारण की उन कविताओं के साथ जो बर्ताव होगा, वही उर्दू के साथ भी—इसमें मुझे सन्देह नहीं है।

साहित्यकार का दायित्व

अंग्रेज पत्रकारों ने बड़े आश्चर्य और खेद के साथ इसी दिल्ल
रूसी नेताओं के स्वागत करने के समय पोस्टरों और तोरणों-ले
पूरी तौर से बायकाट किया गया है, और हिन्दी तथा मेहमान
को ही वहां स्थान दिया गया था। अंग्रेजों ने तो अपने ह
अखबारों मे व्यक्त किया, किन्तु अंग्रेजी के हिमायती काले सा
सचमुच ही उस समय साप लोट रहा था।

यदि आज दिल्ली के घनी-घोरी हिन्दी की उपेक्षा या
तो यह उसके लिए कोई नई बात नही है। बारहवी शता
विदेशी विजेताओ की राजधानी बनी, तब से जब तक त्रि
अधिकार नही हो गया, यानी अठारहवी सदी के उत्तरार्ध
ब्दियो तक, दिल्ली के घनी-घोरियों को हिन्दी से कोई
वास्ता था, तो बाजार मे साग-सब्जी खरीदने या नीच
से टूटी-फूटी भाषा में बोलने भर का। उस वक्त हि
शासन की भाषा थी। उसी मे फरमान निकलते थे, उसी
होता था। उसी में लिखे ग्रथों को पुरस्कृत किया
थर्ड-रेटी कवियों को 'मलिकुश्शोअरा' बनाया जाता था,
कर कह रहा हूं, क्योंकि छः शताब्दियों तक दिल्ली
रहते भी, खुसरो और एक-दो ही हमारे देश के फारसी
की दुनिया गिनने के लिए तैयार है। अपने मुंह
होता। हाल में हमारे यहां के एक महाकवि ने
उनके उपलक्ष मे हमारे देश के प्रतिनिधि तेहरान में
गोष्ठी मनाने का आयोजन करना चाहते थे।
वहां के एक विद्वान से जब पूछा, तो उन्होंने कहा,
वाले हमारे एक शहर मे बावन गडे मिल सकते हैं।
का अपलाप करना था, यह मैं मानता हूं, लेकिन

[1] दिल्ली प्रान्तीय हिन्दी साहित्य-सम्मेलन १९५५ के
आयोजित साहित्य परिषद के सभापति पद से दिये गये

बारे में तो मैं यही कहने की धृष्टता करता हूं कि कालिदास और बाण के युग के कवियों को छोड़ देने पर वही ऐसे कवि हुए, जिन पर हम अभिमान कर सकते हैं।

पंडितराज के पिता पद्मभट्ट आन्ध्र से आकर काशी में बस गये थे। जगन्नाथ काशी में पैदा हुए। संस्कृत के सभी शास्त्रों में पारंगत थे। काव्य ही नहीं, व्याकरण और दर्शन में भी उनका लोहा माना जाता था।

इसी दिल्ली में खानखाना रहीम के थोड़े ही दिनों बाद शाहजहां के युवराज दाराशिकोह पैदा हुए, जिनको भारतीय साहित्य और दर्शन से अपार प्रेम था। जब उनकी इच्छा संस्कृत साहित्य पढ़ने की हुई उस समय कौन अध्यापक हो, इसके लिए चारों ओर नजर दौड़ायी गयी, तो काशी के जगन्नाथ पर सबकी नजर पड़ी। आसाम तक कई दरबारों की खाक छानने के बाद पंडितराज और दिल्ली का सौभाग्य अब खुला। वह यहां बुलाये गये। उस वक्त वह नौजवान थे। कई वर्षों तक वह दिल्ली में रहे। उन्होंने इस दिल्ली-निवास की मधुर स्मृति के बारे में स्वयं कहा है :

दिल्ली वल्लभपाणिपल्लवतले नीतं नवीनं वयः।

मैंने पंडितराज को सर्वतोमुखी प्रतिभा का धनी कहा है। इतना ही कहना उनके लिए पर्याप्त नहीं है। वह अपने समय से बहुत पहले हुए थे, वैसे ही, जैसे दाराशिकोह और उनके परदादा अकबर। एक कहावत मशहूर है और उसके संबंध में उनका एक श्लोक अब भी मौजूद है, जिससे कहावत की सत्यता सिद्ध होती है। कहते हैं बादशाह, शायद शाहजहां, ने प्रसन्न होकर एक दिन जगन्नाथ से कहा कि पंडितराज, जो चाहो माग लो। इसी समय पंडितराज की दृष्टि दीवानेखास की किसी सुन्दरी पर पड़ी, या कहना चाहिए कुछ समय में पड़ रही थी। उन्होंने इस पद्य द्वारा अभिलषित वस्तु मागी :

न याचे गजालिं न वा वाजिराजिं न वित्तेषु चित्तं मदीयं कदापि।
इयं सुस्तनी मस्तकन्यस्तहस्ता लवंगी कुरंगी दृगंगी करोतु॥

पंडितराज ने गजों की आलि और घोड़ों की राजि को नहीं मागा और न धन पाने ही की प्रार्थना की। उन्होंने मृगनयनी लवंगी को माग लिया।

यह मागना साधारण कामुक भी कर सकता था, इसमें कोई विशेषता नहीं थी। परन्तु पंडितराज ने इतने हल्के दिल से लवंगी को नहीं मागा था। उन्होंने उसे अपने अर्धांग के तौर पर स्वीकार किया। उस समय की काशी, या देश का हिन्दू धर्म, भला इसे कैसे बर्दाश्त कर सकता था? सबके मुह से यही निकलने लगा—पंडितराज तो धर्मभ्रष्ट हो गया। उनका हर तरह से

साहित्य में संकीर्ण धार्मिक या राजनीतिक सम्प्रदायवाद नहीं आने देना चाहिए। ऐसी संकीर्णता अपना प्रभाव बहुत दिनों तक रख भी नहीं सकती।

दिल्ली ने अपने पुराने छः सौ वर्षों के इतिहास में यहां की भाषा के संबध में यही रुख लिया था, तो भी उसे उसमे पूरी तौर से सफलता नही मिली। राजा और राजवश चिड़िया-रैन-बसेरा रखने वाले होते है; अमर तो है जनता। जिसने उसका पल्ला पकड़ा, उसी का बेडा पार है।

दिल्ली दरबार मे यद्यपि हिन्दी की पुकार नहीं थी, किन्तु यहीं के एक महान दरबारी अब्दुर्रहीम खानखाना थे। क्या हिन्दी से उनके नाम को हटा कर किसी दूसरे को उस जगह पर बैठाया जा सकता है? रहीम के दोहे सिर्फ पडितों और विद्वानों की नही, बल्कि हिन्दी जन-साधारण की जबान पर चढ गये हैं। दिल्ली मे साहित्य देवताओ की पूजा के लिए न होने पर हमें किसी को पैदा करना पड़ता। पर, यहां के दिल्ली के सूर्य रहीम अपनी उपेक्षित समाधि में अनन्त निद्रा मे सो नही रहे, बल्कि जग रहे है। वह जग रहे है क्योंकि उनके जगने का समय आया है, जब उनकी हिन्दी हमारे स्वतंत्र देश की सर्व-व्यापी महान भाषा है। रहीम की समाधि को हमें हिन्दी-साहित्य का एक तीर्थ बनाना है। उनके निर्वाण-दिवस को ढूढ निकालना चाहिए, और अग्रेजी महीने और तारीख के अनुसार, उस दिन हर साल वहा एक बड़ा साहित्यिक मेला करना चाहिए। आरम्भ आप कर दीजिए, उसको विशाल रूप देने के लिए हमारी अगली पीढ़िया आ रही हैं। रहीम लंका के विभीषण समझे गये थे, किन्तु वह विभीषण नही थे, जो कि सारी जनता की वाणी बन कर आये थे। विभीषणों को दूसरी जगह ढूंढना होगा।

रहीम का स्मरण आने पर एक और विभूति का ख्याल आ जाता है। यद्यपि वह हिन्दी के नही, सस्कृत के थे। पर, हिन्दी और संस्कृत का सबध सौतेला नही है। यह संबध बहुत घनिष्ट, मधुर और सदा काम आने वाला है। सस्कृत ने भूत काल मे हमारे लिए जो किया है, उससे भी अधिक अभी उसे करना है। हमारी हिन्दी को दुनिया की सबसे समृद्ध भाषाओं की पंक्ति मे लाने में जिस ज्ञान-विज्ञान की कमी है, उसके एक सबसे महत्वपूर्ण अंग—परिभाषाओं—को पूरा करने मे संस्कृत को हाथ बटाना है। इन परिभाषाओं द्वारा, वह हमारे देश की सभी राष्ट्रभाषाओं—असमिया, बंगला, उड़िया, तेलगू, तमिल, मलयालम, कन्नड़, मराठी, गुजराती, पंजाबी, आदि—को एक सूत्र में बांधती है, और आगे और भी बांधती जायेगी। इस देश की सभी भाषाओं में घनिष्ट आत्मीयता स्थापित करने का अत्यन्त महत्वपूर्ण काम सस्कृत के जिम्मे है। मैं जिस विभूति और उसके दिल्ली के सबध के बारे में कहना चाहता हूं, वह थे पडितराज जगन्नाथ। वह सर्वतोमुखी प्रतिभा के धनी थे। संस्कृत कविता के

बारे में तो मैं यही कहने की धृष्टता करता हूं कि कालिदास और बाण के युग के कवियों को छोड़ देने पर वही ऐसे कवि हुए, जिन पर हम अभिमान कर सकते हैं।

पंडितराज के पिता पद्मभट्ट आन्ध्र से आकर काशी में बस गये थे। जगन्नाथ काशी में पैदा हुए। संस्कृत के सभी शास्त्रों में पारंगत थे। काव्य ही नहीं, व्याकरण और दर्शन में भी उनका लोहा माना जाता था।

इसी दिल्ली में खानखाना रहीम के थोड़े ही दिनों बाद शाहजहा के युवराज दाराशिकोह पैदा हुए, जिनको भारतीय साहित्य और दर्शन से अपार प्रेम था। जब उनकी इच्छा संस्कृत साहित्य पढने की हुई उस समय कौन अध्यापक हो, इसके लिए चारो ओर नजर दौड़ायी गयी, तो काशी के जगन्नाथ पर सबकी नजर पड़ी। आसाम तक कई दरबारों की खाक छानने के बाद पंडितराज और दिल्ली का सौभाग्य अब खुला। वह यहां बुलाये गये। उस वक्त वह नौजवान थे। कई वर्षों तक वह दिल्ली में रहे। उन्होंने इस दिल्ली-निवास की मधुर स्मृति के बारे में स्वयं कहा है :

दिल्ली वल्लभपाणिपल्लवतले नीतं नवीनं वयः।

मैंने पंडितराज को सर्वतोमुखी प्रतिभा का धनी कहा है। इतना ही कहना उनके लिए पर्याप्त नहीं है। वह अपने समय से बहुत पहले हुए थे, वैसे ही, जैसे दाराशिकोह और उनके परदादा अकबर। एक कहावत मशहूर है और उसके संबंध में उनका एक श्लोक अब भी मौजूद है, जिसमे कहावत की सत्यता सिद्ध होती है। कहते हैं बादशाह, शायद शाहजहां, ने प्रसन्न होकर एक दिन जगन्नाथ से कहा कि पंडितराज, जो चाहो मांग लो। इसी समय पंडितराज की दृष्टि दीवानेखास की किसी सुन्दरी पर पड़ी, या कहना चाहिए कुछ समय से पड़ रही थी। उन्होने इस पद्य द्वारा अभिलषित वस्तु मागी :

न याचे गजालिं न वा वाजिराजिं न वित्तेषु चित्तं मदीयं कदापि।
इयं सुस्तनी मस्तकन्यस्तहस्ता लवंगी कुरंगी दृगंगी करोतु॥

पंडितराज ने गजों की आलि और घोड़ो की राजि को नही मागा और न धन पाने ही की प्रार्थना की। उन्होंने मृगनयनी लवंगी को मांग लिया।

यह मागना साधारण कामुक भी कर सकता था, इसमें कोई विशेषता नही थी। परन्तु पंडितराज ने इतने हल्के दिल से लवंगी को नहीं मागा था। उन्होने उसे अपने अर्धांग के तौर पर स्वीकार किया। उस समय की काशी, या देश का हिन्दू धर्म, भला इसे कैसे बर्दाश्त कर सकता था? सबके मुंह से यही निकलने लगा—पंडितराज तो धर्मभ्रष्ट हो गया। उनका हर तरह से

अपमान किया जाने लगा। कोई उनके हाथ का पानी पीने के लिए तैयार नहीं था। गले मे हाथ लगा कर उन्हे हिन्दू-समाज से निकालने का पूरा प्रयत्न किया गया।

लेकिन पंडितराज नाम के पंडितराज नही थे। उन्होंने अपनी संस्कृति का गम्भीर अध्ययन किया था। वह जानते थे कि इन कूपमण्डूकों को आज से चार शताब्दियों के बाद कोई पूछेगा भी नही। वह अडिग रहे। पंडितराज रहे, जगन्नाथ रहे। अपने धर्म पर उनकी पहले ही की तरह आस्था रही। बुढ़ापे में उन्होंने मथुरा मे जाकर अपना जीवन बिताया। वह नियमपूर्वक साल में काशी जाया करते थे। उनके विद्यार्थी गुरु के चरणों मे आते, उन्हे वह विद्या-दान देते। काशी के दूसरे पंडित उन्हे इस पुण्य-कार्य से नही रोक सकते थे। लवंगी पंडितराज के साथ थी। दोनों का निजी जीवन और दिनचर्या कैसी थी, यह बड़ी मनोरंजक बात हो सकती है। पर उसे जानने का अब साधन क्या है? उनकी विद्वत्ता के सभी कायल थे, और निर्भीकता तथा साहस के भी।

'न याचे गजालि' इस श्लोक को मैंने पहले-पहल एक बहुत ही पुराने विचार के धार्मिक पंडित के मुख से अभिमानपूर्वक कहे जाते सुना था। यह पंडितराज की निर्भीकता और साहस का प्रमाण था। लोग तब भी यह फतवा देते ही थे कि पंडितराज हिन्दू नही, धर्म-भ्रष्ट यवन है। लेकिन यही लोग अन्त में उनकी धर्मनिष्ठता को पूरी तौर से मानने के लिए मजबूर हुए।

इसके बारे मे निम्न परम्परा आज भी दोहरायी जाती है। यद्यपि इसके सत्य होने मे पूरा सन्देह है, किन्तु यह एक उत्कृष्ट कविता की तरह मधुर है। पंडितराज और उनकी पत्नी लवंगी ने अपनी धार्मिकता को साबित करने का निश्चय कर लिया। छात्रों द्वारा इसकी खबर पहले ही काशीवासियों को मिल गयी थी। लवंगी के साथ पंडितराज मणिकर्णिका घाट की सबसे ऊपर वाली सीढ़ी पर जाकर बैठे। फिर उन्होंने गंगा की स्तुति अपनी गंगालहरी के मधुर छदों मे करनी शुरू की। गंगा से उन्होने मानो कहा—यदि तू मुझे सच्चा समझती है, तो आ, मेरी साखी दे। कहते हैं, गंगालहरी के एक-एक पद के मुख से निकलते ही *गंगा एक-एक सीढ़ी ऊपर चढ़ती आयी।* जब लहरी का अंतिम पद समाप्त हुआ, तो गंगा जगन्नाथ और लवंगी के पास ही नही पहुंच *गयी, बल्कि अपनी गोद में लेकर कहा—पवित्र पुत्र,* तू मेरे साथ चल, और लवंगी भी। इस प्रकार पंडितराज ने अपनी शुद्धता की गंगा-परीक्षा दी।

खानखाना और पंडितराज जगन्नाथ ने अपने समय दिल्ली का ध्यान खींचा। आज दिल्ली के धनी-धोरी हिन्दी का लोहा जबर्दस्ती मानने के लिए मजबूर हुए हैं। तो भी, उनका विरोध अब भी रुका नही है। पर, मैं समझता हूं, उनका विरोध काल के प्रचण्ड प्रवाह के सामने बेकार सिद्ध होगा। हमे

उनसे डरने की जरूरत नहीं। दिल्ली में वे ही सब-कुछ नहीं है जो कि हिन्दी को फूटी आंखों नहीं देखना चाहते है।

दिल्ली उस भूमि की महानगरी है, जो हिन्दी की जन्मभूमि है। जमुना के दोनों तरफ बसे कुरु-कुरुजांगल देश की ही भाषा—कौरवी—से हिन्दी पल्लवित हुई। जमुना के पूर्व मेरठ में और जमुना के पश्चिम हरियाणा में सुन कर हमें मेरठी और हरियाणी को दो भाषाएं नहीं समझना चाहिए। जिस तरह यहां 'से' और 'है' का भेद है, वैसे ही गुजराती में भी 'स' और 'ह' का भेद देखा जाता है। काठियावाडी 'हारो' बोलते हैं और दूसरे गुजराती 'सारो' (अच्छा)। लेकिन, इस 'स' और 'ह' के भेद से गुजराती की एकता में कोई बाधा नहीं होती। वही बात हरियाणी और मेरठी की भी है।

मेरे जैसे अधिकाश हिन्दी के सेवक ऐसे हैं, जिनकी मातृभाषा हिन्दी नहीं, बल्कि भोजपुरी, अवधी, व्रज या दूसरी भाषा है। हम अपने भाषा-क्षेत्र में *अपनी मातृभाषा का व्यवहार करते है, कोई-कोई उसमे लिखते भी हैं।* वहां भी हिन्दी के पीछे अपार जनता है, तो यहां प्राचीन कुरु-कुरुजांगल या यौधेय-गण देश के बारे में क्या कहना, जहां कि साहित्यिक और बोलचाल की भाषा एकमात्र हिन्दी है। इतने नर-नारियों की अपनी मातृ-भाषा होने के कारण दिल्ली के कुछ त्रिशंकु यदि हिन्दी का अनिष्ट करना चाहें, तो वह कर क्या सकते हैं?

हिन्दी की स्थानीय भाषा कौरवी की तरफ हमें विशेष ध्यान देना चाहिए। खास कर इस भूमि के साहित्यकारों का यह कर्तव्य है कि वे कौरवी को न भूलें। कोई भी वह साहित्यिक भाषा जीवट वाली भाषा नहीं हो सकती, जिसका अपनी स्थानीय भाषा—डाइलेक्ट—से अविच्छिन्न संबंध नहीं है। विद्वानों का विचार है कि स्थानीय भाषा से जिस साहित्यिक भाषा का सबध टूट गया है, वह प्रवाह-विच्छिन्न नदी की छाड़न जैसी है। यदि छाडन का पानी सड़े भी नहीं, तो भी उसमें वह ताजगी और जीवनदायिनी शक्ति तो हो ही नहीं सकती जो निरन्तर प्रवाहित धारा में होती है। हमारे प्रेमचन्द भोजपुरी भाषा-भाषी थे, उन्होंने केवल शहर के मध्यवर्ग को ही चित्रित नहीं करना चाहा। उनकी अमर लेखनी जन-साधारण की ओर दौड़ी, और जन-जीवन को चित्रित करने में वह भोजपुरी के कितने ही शब्दों को लेने के लिए मजबूर हुई। यद्यपि भोजपुरी के हिन्दी से दूर की भाषा होने के कारण उसमें खपने लायक शब्दों को परखना प्रेमचन्द की पैनी दृष्टि का ही काम था, तो भी उसके बहुत कम ही शब्द लिये जा सके। कौरवी का तो हिन्दी के साथ और संबंध है। उसके तो संख्या में और भी अधिक शब्द खप सकते हैं। यही नहीं, बल्कि जीवन के जिन अंगों को दूसरे हिन्दी लेखक शब्दों की कठिनाइयों के कारण अधूरा

छोड़ देते हैं, उन्हें हमारे कौरवी क्षेत्र के साहित्यकार पूरा चित्रित कर सकते है। इस विषय में सकोच करना, मैं समझता हूं, भारी गलती है। मैला आंचल मे हिन्दी के सीमान्त के जिले पूर्णिया के सैकड़ों शब्द बड़ी खूबी के साथ ले लिये गये हैं, और उनके कारण भाषा कितनी चमत्कारिक हो गयी है, इसे सहृदय पाठक जानते हैं। इससे हमे शिक्षा लेनी चाहिए।

कौरवी क्षेत्र का एक और भी भारी महत्व है, जिसकी ओर अभी हमारी दृष्टि नही गयी। कौरवी लोक-साहित्य की ओर देर से ही सही, अब नौजवान साहित्यकारों का ध्यान गया है, और उसके संग्रह के लिए वे प्रयत्न कर रहे है। लेकिन, कौरवी क्षेत्र मे हिन्दी के प्राचीनतम लिखित साहित्य के मिलने की संभावना है, जिसकी ओर मैं आपका ध्यान आकृष्ट करना चाहता हू। राजस्थानी और गुजराती ही नही, बल्कि द्रविड़ वंश की कन्नड़ जैसी भाषाओं के भी प्राचीनतम साहित्य जैनो के द्वारा सिरजे गये और उन्ही के द्वारा सुरक्षित हुए। जैन धर्म, और, अपने भारत मे रहते समय, बौद्ध धर्म भी, लोक-भाषा का बहुत आदर करता रहा, उसमें साहित्य-निर्माण कर उसे सुरक्षित करता रहा। इसके परिणाम-स्वरूप प्राकृत और अपभ्रंश की तरह उपरोक्त आधुनिक भाषाओं के प्राचीनतम साहित्य को भी उन्होने सुरक्षित रखा। कौरवी के प्रदेश के हरेक कस्बे और शहर में ही नही बल्कि बहुत से बड़े-बड़े गांवो मे भी जैन गृहस्थ रहते है। वहां उनके मदिर, उपाश्रय है, जिनमें कुछ धर्म-पुस्तको का रहना अनिवार्य है। इन पुस्तको में बहुत से हस्तलिखित ग्रथ भी होते है। ऐसे मदिरो और उपाश्रयों की सख्या कौरवी क्षेत्र मे हजारो है, अर्थात ऐसे कई हजार छोटे-मोटे पुस्तकालय यहा मौजूद है, जिनमे हिन्दी के प्राचीनतम लिखित साहित्य के मिलने की सभावना है। ज्ञानपंचमी कथा जैसी पुस्तकें साधारण श्रद्धालु नर-नारी के उपयोग के लिए हर समय जैन विद्वान लिखते रहे है। बारहवी से सोलहवी सदी तक कौरवी क्षेत्र में इस तरह की पुस्तकें कौरवी भाषा मे जरूर लिखी गयी होगी। वे गद्य मे भी हो सकती है और पद्य में भी। उन्हे ढूंढने की बड़ी आवश्यकता है। क्या कोई एक—या अनेक—साहित्य-प्रेमी तरुण, सत्तू बाध कर, इस काम के लिए जुट सकते है?

हिन्दी के बारे में 'गतिरोध' शब्द बहुत इस्तेमाल किया जाता है। मेरी समझ में यह ख्याल गलत है। यदि प्रगति का मतलब है हर दशाब्दी में प्रेम-चन्द और प्रसाद पैदा होते रहे, तो यह कभी और कहीं नही हुआ है। इस ख्याल को हटा कर यदि हम देखें, तो चाहे कथा साहित्य हो, चाहे कविता या ज्ञान-विज्ञान, सब में हमे प्रगति दीख पडती है। हिन्दी के लिए एक बात से

असुविधा की बात यह है कि उसके साहित्य के प्रकाशन का कोई एक बहुत बड़ा केन्द्र नही है।

बंगला साहित्य के प्रकाशन का केन्द्र कलकत्ता है, अब पाकिस्तान के बनने के बाद ढाका भी हो रहा है। उडिया का कटक, तमिल का मद्रास, मराठी का बम्बई और कुछ-कुछ पूना भी है। इसी तरह हमारी दूसरी साहित्यिक भाषाओं के भी एक या दो ही शहर केन्द्र है, इसलिए वहा जितनी पुस्तकें निकलती है, उनका पता आसानी से लग जाता है। हिन्दी का प्रकाशन यदि विकेन्द्रित है, तो इसे बिल्कुल दोष भी नही कहा जा सकता। पर यह तो है ही कि हिन्दी के विशेषज्ञों को भी पता नही लगता कि अपने सम्पर्क वाले नगर से दूर कौन सी पुस्तकें किस विषय पर निकल रही हैं। हिन्दी पुस्तकें कलकत्ता से भी निकलती है, पटना और बनारस से भी। प्रयाग और लखनऊ भी उसके वडे केन्द्र है, जबलपुर, आगरा, ग्वालियर, जयपुर—इसी तरह बम्बई, आदि, नगरो में हिन्दी-प्रकाशन का काम होता है। इसके लिए **प्रकाशन समाचार और हिन्दी-प्रचारक** का हमें कृतज्ञ होना चाहिए, जिन्होंने इस अज्ञान को दूर करने में काफी काम किया है।

तो भी यह तो कहना ही पड़ेगा कि हिन्दी के प्रकाशन के एक बहुत बड़े केन्द्र का अभाव खटकता है। इस अभाव को दिल्ली पूरा करने के लिए तैयार है, यह देख कर बड़ी प्रसन्नता हो रही है। पिछले चार-पांच सालों में हिन्दी-प्रकाशन क्षेत्र में दिल्ली बहुत आगे बढ रही है। यहा के प्रकाशन व्यवसायियों के साहस को देख कर और भी खुशी होती है। इसे मानने में किसी को उज्र नही हो सकता कि अगले एक दर्जन वर्षों में ही हिन्दी का सबसे बड़ा प्रकाशन केन्द्र दिल्ली मे हो जायगा। तब हिन्दी के प्रकाशनों के बारे में जो भारी अज्ञान आज देखा जाता है, वह दूर हो जायगा। आज भिन्न जगहों से संख्या में ही नही, बल्कि गुण मे भी बहुत-सी अच्छी पुस्तकें निकल रही है। जब तक उन्हें नही देख लिया हो, तब तक यह कहना उचित नही है कि हिन्दी में अच्छी चीजें नही निकल रही हैं, या साहित्य में 'गतिरोध' हो गया है। अपनी प्रगति से हमें असतोष होना चाहिए, इसे मैं मानता हूं। अगर हम संतुष्ट हो जायेंगे तो आगे बढने के लिए प्रयत्न कैसे करेंगे? हमारे साहित्यकार अपनी कमियो को महसूस करें। कितने ही विषयों मे हमारे लेखक गम्भीरता लाने के लिए अपने को तैयार नही करते। प्रतिभा और क्षमता रहते भी, वे आलस्य करते है। बहुत जगहों पर तो लोग बिल्कुल अनधिकार धांधली-सी मचा रहे है। व्यवसायी खोटे सिक्कों को चलाने के लिए तैयार हों तो कोई आश्चर्य की बात नही। पर, पारखी लोग भी प्रभाव में आ जाते है, या 'मन तुरा हाजी बगोयम्, तू मरा हाजी बगो' की कहावत को चरितार्थ करने लगते हैं। इससे साहित्य

का अनिष्ट होता है। ये साहित्य के आगे बढ़ने में रुकावटें है, जिन्हें दूर करना चाहिए।

प्रकाशकों को जब तक पाठ्य-पुस्तकों का प्रलोभन है, तब तक अच्छे साहित्य के प्रकाशन में भारी दिक्कत रहेगी। पाठ्य-पुस्तकों के प्रकाशन को वस्तुतः सरकार को अपने हाथ में ले लेना चाहिए, ऐसा करने में कुछ दोष भी आ सकते हैं, लेकिन दोष और गुण सबको देखना होगा। मैं समझता हूं, पाठ्य-पुस्तकों के प्रकाशन का काम सरकार के हाथ मे चले जाने पर अच्छा ही होगा। फिर प्रकाशक साहित्य की अच्छी सेवा कर सकेंगे। सामान्य साहित्य की पुस्तकें कम खपती हैं, उसके लिए प्रकाशक को अधिक पूजी लगाने का प्रोत्साहन नही हो सकता। यह शिकायत बेजा नही है और इस शिकायत से लेखक भी सहमत हैं। हिन्दी लेखकों की और सामान्य साहित्य की पुस्तकों के प्रकाशकों की दिक्कतें एक-सी है। हिन्दी भाषा वालों की संख्या १५-१६ करोड़ है, और हिन्दी के किसी ग्रंथ का दो हजार का सस्करण भी बड़ा समझा जाता है, *जब कि १५ लाख की आबादी वाले ताजिकिस्तान सोवियत गणराज्य में* उपन्यासो, कहानियो, कविताओं के सात-सात आठ-आठ हजार के सस्करणों का होना मामूली बात है। उस हिसाब से तो हिन्दी की किसी भी अच्छी पुस्तक का सस्करण एक लाख से कम नही होना चाहिए। भविष्य मे वह अच्छा होगा भी, लेकिन मालूम नही उस भविष्य की प्रतीक्षा हमारी अगली पीढी को भी करनी पड़ेगी या नहीं।

पुस्तकों के भारी संस्करण के लिए सार्वजनिक शिक्षा के साथ-साथ लोगों की आर्थिक स्थिति का बेहतर होना भी आवश्यक है। खाना, कपड़ा, मकान और बाल-बच्चों के पालन-पोषण के लिए जो खर्च अनिवार्य है, उसे कर लेने के बाद यदि आपकी जेब में दस-बीस रुपये हर महीने बच रहें, तभी आप उनका उपयोग मनोविनोद या ज्ञान-विज्ञान बढाने के लिए कर सकते है। पत्र-पत्रिकाओं और पुस्तकों का जो मूल्य है, यदि वह आपकी मासिक आमदनी का नगण्य-सा अंश है, तो आप उनको ज्यादा से ज्यादा खरीद सकते है। हमारे देश में यही दिक्कत है। शिक्षा कम है। जो शिक्षित हैं, उनकी आर्थिक स्थिति इतनी बुरी है कि वे अपना और अपने परिवार का पेट काट कर ही पुस्तक की लालसा पूरी कर सकते हैं। 'सर्वे पदा हस्तिपदे निमग्ना' के अनुसार अब इस समस्या का भी हल देश की गरीबी और भुखमरी के दूर करने पर निर्भर है। यह बड़ी अच्छी बात है, क्योंकि आर्थिक कठिनाई को दूर करने के लिए अब हम मजबूर हैं।

हमें हिन्दी के लिए दिल्ली मे अपने एक केन्द्रीय स्थान की आवश्यकता है, जिसमे व्याख्यानशाला हो, रंगमंच हो, अच्छा पुस्तकालय हो, जहा पर राज-

धानी और बाहर के विद्वान विचार-विनिमय करें, और सहायता प्राप्त कर सकें। हमें दिल्ली में एक बड़ा साहित्य-तीर्थ सौभाग्य से रहीम की समाधि के रूप में मिला हुआ है। इसे हमें एक विशाल रूप देना चाहिए।

फारसी का महान कवि फिरदौसी अपने समय के जिस महानगर तूस में पैदा हुआ था, वह अब कई मीलों तक फैला सूखा बयाबान है। वहां की प्रकृति वर्षा में उदार नहीं है, जिसके कारण चारों तरफ नजर दौड़ाने पर कहीं हरियाली नजर नहीं आती। ईरान ने फिरदौसी की कदर करनी सीखी, और वहां हजारसाला जशन मनाया गया। उस समय इस बयाबान में फिरदौसी की समाधि को सजाने की कोशिश की गयी। मैं भी एक बार वहां पहुंचा। मशहद से कई मील चल कर वहां जाने पर मुख्तसर से मकबरे को देख लेने पर भूख-प्यास जोर मारने लगी। पर वहां कुछ नहीं था। यदि पास में माली ने खरबूजे न लगाये होते, तो भूखे-प्यासे ही लौटना पड़ता। रहीम की समाधि तूस जैसे बयाबान में नहीं है, वह बढ़ती हुई दिल्ली के भीतर है। उसे हमें एक तीर्थ के अनुरूप बनाना चाहिए। फूल हो, बाग हो, पुस्तकालय हो, सह-मिलन और गोष्ठी के लिए छत—और आकाश के नीचे विस्तृत स्थान—हो। इन दो संस्थाओं की दिल्ली को बड़ी आवश्यकता है। ●

ऐतिहासिक उपन्यास

सरस ललित गद्य बृहत्कथा ऐतिहासिक आधार लेकर हमारे देश में पहले भी लिखी जाती रही, पर उसे यथार्थवादी ढंग से लिखने की प्रणाली आधुनिक काल की एक विशेष देन है। आधुनिक दृष्टिकोण ने अयथार्थवादी कथानक को फीका बना दिया, और पाठक अपने मनोरंजन की चीज भी अलौकिक नहीं, लौकिक रूप में देखना चाहते है। आज यही कारण है, जो सारे भूमंडल मे नये ढग के उपन्यासो और कहानियो को लिखने-पढने का रिवाज चल पडा है। हमारे अधिकाश लेखक वर्तमान काल से संबंध रखते हैं। यथार्थता का पूरी तौर से अनुसरण करने के लिए यह सुगम भी है। ऐसे उपन्यास के पात्र हमारे सामने मौजूद हैं। हम स्वय उन्ही में से एक हैं, इसलिए उनके अन्तर-बाह्य से पूर्णतया परिचित है। यदि अपने ही देश के व्यक्तियों, इर्यो तक अपने कथानक को सीमित रखते है, तो हम देश-काल-पात्र के अनौचित्य के भागी नही हो सकते। भविष्य-संबंधी कहानी या उपन्यास बहुत कम लिखे जाते है, और वह अधिकतर किसी आदर्श को साकार रूप में दिखलाने के लिए लिखे जाते है। काल के अनुसार दूसरी श्रेणी के उपन्यास या कहानी भूत या अतीत-संबंधी होते हैं, जिनके लिए यह जरूरी नहीं है कि वे ऐतिहासिक ही हों? तो भी कथाकार को किसी देश-काल को तो रखना ही पड़ेगा, और उसे देश-काल तथा उनसे संबधित पात्रो को उनके अनुरूप ही चित्रित करना होगा। हर हालत मे यथार्थवाद हमारे ऊपर कुछ जिम्मेवारियां, कुछ नियमों की पावन्दी रखता ही है।

यह पावन्दी ऐतिहासिक उपन्यासों के संबंध में निर्वाहित करनी ही होगी। चूंकि उपन्यास का कलेवर बड़ा होता है, इसलिए उसका हर जगह निर्वाह करना दुष्कर होता है। ऐसे उपन्यास प्राक्-इतिहास के संबध में भी लिखे जा सकते हैं, पर तब हमारे पात्र ऐतिहासिक नहीं होंगे। प्राक्-इतिहास काल व्यक्ति-प्रधान नहीं समाज-प्रधान था, और किसी व्यक्ति को नायक बनाने की जगह अनेक व्यक्ति नायक का पार्ट अदा कर सकते हैं। पर, प्रागैतिहासिक काल को लेकर उपन्यास अभी हमारे यहां तो लिखे नहीं गये है, कहानियां जरूर लिखी गयी हैं। हमारी भाषा में तो वस्तुतः ऐतिहासिक उपन्यास भी बहुत कम ही हैं, और उनमें भी ऐतिहासिक यथार्थवाद की कसौटी पर उतरने वाले बहुत कम हैं।

ऐतिहासिक उपन्यास में हम ऐसे समाज और उनके व्यक्तियों का चित्रण करने जा रहे हैं, जो सदा के लिए विलुप्त हो चुके हैं। किन्तु, उन्होंने कुछ पद-चिह्न जरूर छोड़े हैं, जो हमें उनके साथ मनमानी करने की इजाजत नहीं दे सकते। इन पद-चिह्नों या ऐतिहासिक अवशेषों के पूरी तौर से अध्ययन को यदि हम अपने लिए दुष्कर समझते हैं, तो कौन कहता है, आप जरूर ही इस पथ पर कदम रखें? पर, हम देखते हैं, कम-से-कम हमारे देश में समर्थ कथाकार भी ऐसी गलती कर बैठते हैं, और बिना तैयारी के ही कलम उठा कर लिख बैठते हैं। इसमें शक नहीं, यदि उनकी लेखनी चमत्कारिक है, तो साधारण पाठक उसे बड़ी दिलचस्पी से पढ़ेंगे, और हमारे समालोचकों में बहुत कम ही ऐसे हैं, जो ऐतिहासिक यथार्थवाद की परख रखते हैं, इसलिए इतिहास के जानकारों और प्रेमियों के सिर में दर्द पैदा करने वाले उपन्यासों को खूब अच्छी समालोचना या सम्मति भी प्राप्त हो सकती है। लेकिन ऐसे लेखक की कृति पर राय देने का अधिकार आज ही के पाठक नहीं रखते। समानधर्मा लोगों की अनेक पीढ़ियां उन्हें देखेंगी, और वह ऐसे लेखक को कितनी तुच्छ दृष्टि से देखेंगी, यह कहने की आवश्यकता नहीं। जिन्हें तज्ञों की राय की कोई परवाह नहीं, ऐसे वीरों के लिए कुछ कहना नहीं। उनकी कलम को कोई नहीं रोक सकता, और उनके पाठक भी मिल सकते हैं। एक लेखक ऐतिहासिक सामग्री के अवगाहन में अपने परिमित साधनों के कारण अक्षम हो सकता है, पर लाखों रुपये खर्च करके बनने वाली फिल्मों के बनाने वालों को हम साधन-हीन नहीं कह सकते। वहां तो इस विषय में और भी अंधेर मचा हुआ है। रेडियो पर एक बार अशोक संबंधी एक कहानी प्रसारित हुई थी, जिसमें बारूद का धड़ाका करवाया गया था। जहां अर्थशास्त्र, साइंस के विलायती यूनिवर्सिटियों के ग्रेजुयेट प्रभु और महाप्रभु बनने के सबसे योग्य पात्र समझे जाते हों, वहां ऐसा अंधेरखाता क्यों न हो?

जिस समय की कुछ भी समकालीन लिखित सामग्री प्राप्य है, उसे कथा साहित्य के लिए ऐतिहासिक मान सकते हैं। इस प्रकार हमारे यहां ऐसा काल तीन-चार हजार वर्ष तक का हो सकता है। हरेक ऐतिहासिक कथाकार के लिए आवश्यक नहीं है कि वह सारे काल की प्राप्य सामग्री का समवगाहन करे, और न यह संभव है। ऐतिहासिक सामग्री का हलके दिल से अध्ययन लाभदायक नहीं. इससे लेखक आधा तीतर आधा बटेर पैदा करने में समर्थ होगा, जो और भी उपहासास्पद बात होगी। हमारे जैसे ऐतिहासिक कथाकार को हमेशा ध्यान में रखना चाहिए कि हमारी एक-एक पांती पर पैनी दृष्टि से बड़ा निष्ठुर मर्मज्ञ-समूह देख रहा है। हमारी जरा भी गलती वह बर्दाश्त नहीं करेगा, और वह हमारी भारी भद्द करायेगा। कोई भी चरित आपको

आवश्यक मालूम हुआ, उसे ले लीजिए। फिर उसके देश और काल के बारे में जितनी ज्ञातव्य बातें हैं, उन्हें जमा करने में लग जाइए। किसी यूनीवर्सिटी के लिए लिखी जाने वाली अच्छी थीसिस से कम मेहनत हमें इस सामग्री-संचय में नहीं करनी पड़ेगी। पकी-पकायी सामग्री आपके लिए तैयार शायद ही मिले। यह कितनी ही मात्रा में मिल भी सकती है, यदि उसी काल और समाज पर किसी अधिकारी लेखक ने कोई उपन्यास लिख डाला हो। उससे आप खुशी से सहायता ले सकते हैं। वर्तमान समाज के चित्रण हमारे वर्तमान काल से संबंध रखने वाले उपन्यासों में बहुत से एक जैसे होते हैं, पर उसके कारण हम किसी लेखक को दोषी नहीं ठहरा सकते। साहित्यिक चोरी दूसरी चीज है, जिससे बचना अवश्य चाहिए।

ऐतिहासिक उपन्यासकार का विवेक वैसा ही होना चाहिए, जैसा कि इतिहासकार का होता है। उसे समझना चाहिए कि कौन सी सामग्री का मूल्य अधिक और किसका कम है। लिखित सामग्री वही प्रथम श्रेणी की मानी जायेगी, जिसे उसी समय लिखा गया हो। ग्रंथों को बराबर नई प्रति के रूप में उतारा जाता रहता है। सभी प्रतिलिपि करने वाले अपनी सफाई देते रहते हैं : "यादृशं पुस्तकं दृष्टं, तादृशं लिखितं मया। यदि शुद्धमशुद्धं वा मम दोषो न दीयताम्।" पर जब हम नई प्रतियों में बराबर घटाव-बढ़ाव होते देखते हैं, तो दोष क्यों न दें। महाभारत का जो नया संस्करण पूना में निकल रहा है, उससे मालूम होता है कि कितने भारी परिमाण में नये श्लोकों को रच कर उसमें मिलाया गया। रामचरितमानस में कितने परिमाण में क्षेपक हैं, यह आसानी से देखा जा सकता है। इसीलिए समकालीन लिपिबद्ध सामग्री सबसे अधिक प्रामाणिक मानी जाती है। शिलालेख और ताम्रपत्र उसी समय के लिखे होते हैं, इसीलिए उनका मूल्य अधिक है। सिक्कों की भी वही बात है। वास्तु, मूर्तियां और चित्र, यदि उस समय के हों, तो वह उस समय के समाज के जीवन पर बहुत प्रकाश डालते हैं। अजन्ता की चित्रशालाएं पांचवीं से सातवीं सदी के भारत के समाज का बड़ा ही सच्चा चित्र उपस्थित करती हैं। सांची और भरहुत की मूर्तियों को अच्छी तरह अध्ययन किये बिना हम मौर्य और शुंग काल पर अच्छे उपन्यास नहीं लिख सकते। हरेक ऐतिहासिक उपन्यासकार के लिए जैसे तत्कालीन इतिहास के पढ़ने और नोट लेने की आवश्यकता है, उसी तरह संग्रहालयों और चित्रों को भी अच्छी तरह देखना जरूरी है। हर तीन-चार शताब्दी के बाद लोगों की वेश-भूषा में कितने ही अंतर आ जाते हैं, जिनका ध्यान रखना जरूरी है। आज जिस तरह हमारे अपने देश में प्रदेश के अनुसार लोगों के वस्त्र-आभूषण में फर्क मालूम होता है, उसी तरह कुछ न कुछ पहले भी था, यह भी इस अध्ययन से मालूम होगा।

ऐतिहासिक अनौचित्य से बचने के लिए जिस तरह तत्कालीन ऐतिहासिक सामग्री और इतिहास का अच्छी तरह अध्ययन आवश्यक है, वैसे ही भौगोलिक अध्ययन भी आवश्यक है। यह तो बल्कि समसामयिक उपन्यास और कहानी लेखकों के लिए भी जरूरी है। जिस तरह ऐतिहासिक मानदंड स्थापित करने के लिए तत्कालीन राजाओं के राज्य और शासन-काल का पहले ही से तालिका बना उसमे वर्णनीय घटनाओं के अध्याय-क्रम को दर्ज कर लेना जरूरी है, उसी तरह भौगोलिक स्थानों, उनकी दिशाओं और दूरियों का ठीक-ठीक अन्दाज रखने के लिए तत्संबंधी नक्शे का खाका हर वक्त सामने रखना चाहिए, बल्कि नक्शा हमारे मानस-पटल पर अंकित हो जाना चाहिए। ऐसा न करने पर अक्षम्य गलती हो जाती है। नन्दलाल दे ने प्राचीन भूगोल का कोश लिखा है। उसमे नक्शे का ख्याल न रहने के कारण उन्होंने कुमाऊं की काली और अलीगढ़-एटा जिलों की काली को एक समझ लिया। उन्हें यह ख्याल नहीं आया कि ऐसा होने के लिए दोनों कालियों को गंगा के ऊपर से गुजर कर एक होना पड़ेगा।

मानव के ऐतिहासिक विकास में एक चीज का एक समय अभाव रहता है, और दूसरे समय उसका आविष्कार हो जाता है। जो चीज जिस समय अभी आविष्कृत नही हुई है, उसे उस समय रखना भारी दोष है। उदाहरण के लिए बारूद और बारूदी हथियारों को ले लीजिए। चीन में यद्यपि आतिशबाजी के छोटे-छोटे खिलवाड़ों के लिए बारूद का उपयोग पहले भी होता था, पर उसे हथियार के तौर पर सबसे पहले चंगेज (मृत्यु १२२७ ई.) की सेना ने इस्तेमाल किया। अभी भी धातु की तोपें नही बन सकी थीं, और बारूद को मोटे चमड़े की कई तहों से बनी डेढ-दो हाथ की तोपों से फेंका जाता था। चमड़े की तोप उस समय की अपेक्षाकृत कमजोर बारूद को देर तक सभाल नही सकती थी। धातु की तोपें मंगोलों की चमडे की तोपों को देख कर यूरोप में पहले-पहल बनी। आगे बारूद के शक्तिशाली हथियार सारे यूरोप वालों ने निकाले। यही बारूदी तोपे और बदूकें थी, जिन्होंने युद्ध में यूरोपियों के पल्ले को भारी कर दिया और उन्होंने सारे विश्व पर अपना अधिकार कर लिया।

भारत में सबसे पहले बारूदी तोपों का इस्तेमाल बाबर ने पानीपत के मैदान में २१ अप्रैल १५२६ ई. में किया। उसकी सात सौ यूरोपीय तोपो ने चार-पाच घंटे मे दिल्ली (इब्राहीम लोदी) की सेना को घास-मूली की तरह काट कर रख दिया। २१ अप्रैल १५२६ ई. से पहले बारूदी तोपो और हथियारों को अपने उपन्यासों और कहानियों मे लाना अनुचित है।

कहा जा सकता है, हमारे यहां पहले से ही सारे हथियार मौजूद थे। आपके यहा पुष्पक विमान मौजूद थे, बारूदी तोप क्या अणुबम भी मौजूद थे,

पर यह आप के घर की मान्यता है, इसे वैज्ञानिक दुनिया नहीं मानती। आप जैसे अपने ओझा-सयानों और भूतों-प्रेतों की गप्पबाजियों को अपने कथानकों में नहीं ला सकते, वैसे इन पुरानी मान्यताओं या भ्रमों को भी अपने ऐतिहासिक वर्णनों में सम्मिलित नहीं कर सकते।

हमारे ऊपर के कथन से मालूम होगा, ऐतिहासिक उपन्यास और कहानी लिखने के लिए नौ मन तेल वाली शर्तें पूरी करनी पड़ेगी। शर्तें तो पूरी करनी ही होगी—यदि आप गम्भीरतापूर्वक इस क्षेत्र में कदम रखना चाहते हैं। नहीं तो "मुखमस्तीति वक्तव्यं दशहस्ता हरीतकी" वाला रास्ता आपके लिए भी खुला हुआ है ही। ●

कौरवी जन-साहित्य

राष्ट्रभाषा हिन्दी का उद्गम कौरवी—अर्थात कुरुदेश की लोक-भाषा—है, जो सहारनपुर, मुजफ्फरनगर, मेरठ के तीनों सम्पूर्ण जिलों तथा बुलन्दशहर के उत्तरी भाग मे बोली जाती है। पश्चिम मे इसकी सीमा जमुना है, पूर्व में बहुत दूर तक गंगा होने के साथ बिजनौर जिले के कितने ही गावों मे गंगा पार भी चली गयी है। हिन्दी की मूल भूमि और मूल भाषा इसी भूभाग की बोली है, जिसे अब मानने में शायद ही किसी विद्वान को आपत्ति हो। कुछ लोग पुरानी कल्पना को मानते हुए दिल्ली और उसके आस-पास की भूमि को हिन्दी की मूल भूमि होने का श्रेय देना चाहते थे, लेकिन दिल्ली के आस-पास की बोली हरियाणी, या बांगरू है, जो कौरवी से बहुत घनिष्ठ संबंध रखती है, इसमें संदेह नही। लेकिन वह हिन्दी की मूल भाषा स्वीकार नही की जा सकती। सबसे बडा अन्तर हिन्दी और हरियाणी में 'है', की जगह 'से' होना है। वैसे हरियाणी और कौरवी में सभी बातों मे समानता है, केवल 'हैं' 'सें' और 'हूं'-'सूं' का अन्तर है। तो भी यह अन्तर भी बतलाता है कि हिन्दी कौरवी की उपज है। कौरवी भाषा-भाषी स्वयं अपनी भाषा के प्रति गौरव प्रकट करने मे सकोच करते हैं, इसलिए किताबी हिन्दी या शहरो के कुछ आकाशबेल जसे परिवारों के हिन्दी बोल लेने वाले लोग यदि कौरवी भाषा की रोट्टी-गड्डी बेट्टा-बेट्टी की हसी उड़ाये, तो इसमें आश्चर्य क्या ?

भाषाओं के गुण-दोषों का परिचय रखने वाले यह मानते हैं कि कोई भी साहित्यिक भाषा उतनी कोमल, भावव्यंजक और सरस नही रह सकती, जिसका संबंध अपनी बोली से नही है। बोली असल में धरती है। उसके संबंध द्वारा ही साहित्यिक भाषा की जड़ धरती में गड़ी रहती है, और उसे वहा से सर्वांगीण पुष्टि मिलती है। कौरवी भाषी "वह आवे" कहेगा, जब कि साहित्यिक हिन्दी वाला कहेगा—"वह आता है।" 'आवे' जैसे प्रयोग उर्दू कविता में पहले किसी समय होते थे, लेकिन पीछे उर्दू साहित्यकारों ने उसे मतरूक (परित्याज्य) कर दिया। लेकिन 'आता है' से 'आवे' मे शब्द-लाघव के साथ-साथ इसका संबंध सीधे संस्कृत के धातु-रूप 'आयाति' से हो जाता है, और 'आता है' में वह संबंध कर्तृवाची क्रिया द्वारा लम्बे द्रविड़ प्राणायाम द्वारा स्थापित होता है।

यहां हमें कौरवी के व्याकरण या भाषा-तत्व के बारे मे नही कहना है,

बल्कि पाठकों का ध्यान कौरवी जन-साहित्य की उपादेयता की ओर आकृष्ट करना है। हिन्दी साहित्यकारों का हिन्दी की असली बोली के साथ परिचय होने की बड़ी आवश्यकता है। हमारी भाषा का अंतिम सवाल तभी हल हो सकेगा, जब कि कौरवी के साथ उसका फिर से सजीव संबंध स्थापित किया जाय। यह सबके मान की बात नहीं है कि कौरवी की भूमि में कुछ समय बिता कर वहा की भाषा से परिचय प्राप्त किया जाय। लेकिन ऐसा संपर्क वहा के जन-साहित्य के साथ स्थापित करना कठिन नहीं है। परन्तु अफसोस यह है कि कौरवी जन-साहित्य के संग्रह करने का आज तक उतना भी प्रयत्न नहीं हुआ है, जितना भोजपुरी और दूसरी कितनी ही भाषाओं में। मुश्किल से चार-पाच आदमियों ने इस दिशा में बहुत थोड़ा-सा काम किया और कोई बड़े संग्रह अभी तक प्रकाश मे नही आये। लोटा-डोर कंधे पर डाल कर कौरवी जन-साहित्य के संग्रह के लिए फकीर बनने वाले अभी पैदा नहीं हुए। कुछ देश के शहरों में शुद्ध कौरवी मुश्किल से ही सुनने मे आती है। वहा के कितने ही शिक्षित तो यह भी मानने से इनकार करते हैं कि उनकी भाषा रोटी-बेटी से संबंध रखती है। अब तक चाहे कौरवी जन-साहित्य के संग्रह की ओर लोगों का ध्यान न गया हो, लेकिन अब जब कि हिन्दी को सर्वांग परिपूर्ण करने की कोशिश की जा रही है, और विश्व के सारे ज्ञान-विज्ञान को हिन्दी में लाने के लिए लाखों की सख्या मे परिभाषाओं के निर्माण और ग्रथ-प्रणयन की कोशिश की जा रही है, उस समय हिन्दी-गंगा गोमुख मे निराबाध संबंध जोड देना बहुत जरूरी है। इस संबंध के न होने से आये दिन हम साहित्यकारों को कठिनाई का सामना करना पड़ता है। समाज के अधूरे चित्रण का जो दोष हमारे कथा-साहित्य पर आता है, उसमें एक कारण कौरवी जन-साहित्य और शब्द-कोश की अनभिज्ञता भी है। अंग्रेजी और दूसरी भाषाओं के कथा-साहित्य में हम सामाजिक जीवन के बारीक-से-बारीक रूप को चित्रित पाते हैं। बंगला अपनी उद्‌गम-बोली से अलग-थलग नही है, इसलिए उसको भी यह सुभीता प्राप्त है। और, बोली से और अधिक अनुप्राणित करने के लिए रवीन्द्र और शरत्‌चन्द्र जैसे महान साहित्यकारों ने भारी काम किया। प्रेमचन्द ने जन-जीवन के भीतर अधिक गहराई तक उतरने के लिए इस दिशा में कुछ काम जरूर किया, लेकिन उनकी भाषा भोजपुरी बनारसी थी, और जहां-कहीं वह केवल उसकी पुट डालते, वहां उर्दू वाले तो नाक-भौं सिकोड़ने लगते, और कैफी जैसे साहित्यकार उनकी भाषा को पुरबिया या दूसरे अर्थों में गंवारू कहते। इसमें शक नही कि कौरवी, हरियाणी, ब्रज-अवधी, मगही-मैथिली-भोजपुरी, बुंदेलखंडी, मालवी, मवाड़ी-मारवाडी, कुमाऊंनी-गढवाली मे भी बहुत से शब्द कुछ थोड़े से उच्चारणों के साथ एक ही जैसे मिलते है, लेकिन उनके शब्दकोश मे काफी

ऐसे शब्द हैं, जो उनके निजी है और जिनका प्रयोग पाठको के लिए कठिनाई उपस्थित करता है। और साथ ही ऐसे प्रयोग की छूट देने का मतलब है हिन्दी को स्थानीयता से भर कर दुरूह बना देना।

नौका-विहार के वर्णन के लिए हमे नाव के हर अग-प्रत्यंग, तथा उसकी हर तरह की चाल के लिए सैकडो शब्दो की आवश्यकता है; इसी तरह खेत मे हल जोतने, फसल काटने आदि के वर्णन के लिए भी हमे सैकड़ो शब्दों की आवश्यकता है। ये शब्द हमारी भाषाओं मे मौजूद है। लेकिन स्थानीयता का ख्याल करके हम उनको इस्तेमाल नही करते, चाहे उसके कारण हमारा चित्र अधूरा ही रह जाय।

मैं एक उदाहरण देता हू। पूर्वी उत्तर प्रदेश, और विहार मे खास करके, अनाज रखने की बखारें होती है। मैंने इस शब्द की आवश्यकता समझी, लेकिन मैं कभी शायद इस्तेमाल न करता, यदि मुझे मालूम न हुआ होता कि यह शब्द केवल बिहारी भाषाओं का ही नही है, बल्कि मालवा में भी यह प्रचलित है।

जहा स्थानीय शब्दो मे इस तरह का भेद हो, वहा यदि हमे कौरवी का पर्यायवाची शब्द मालूम हो, तो हम उसे निस्संकोच इस्तेमाल कर सकते है। इस दृष्टि से भी सजीव कौरवी भाषा के एक सम्पूर्ण कोश की आवश्यकता है। कौरवी जन-भाषा का व्याकरण हिन्दी भाषा को सरल कर सकता है, यह भी ध्यान देने की बात है। लेकिन व्याकरण और कोश के लिए कौरवी की छपी-छपाई पुस्तकें पहले से मौजूद नहीं हैं, इसलिए पानी पीने से पहले कुआ खोदने की आवश्यकता होगी। लोक-साहित्य—चाहे वह कविता हो या कथा, अपना स्वयं काव्यमय महत्व रखता है। आज हमारे कितने ही विद्वानों के परिश्रम के कारण हम भोजपुरी लोक-साहित्य का आनन्द लेते है, मैथिली और व्रज का भी रसास्वादन करते हैं, लेकिन हिन्दी के मूल रूप कौरवी के साहित्य के अलिखित और अमुद्रित होने से हम उससे वंचित है।

हिन्दी की ही नही, बल्कि भारतीय साहित्य और दर्शन की आदिभूमि—कुरु प्रदेश—आज उपेक्षित-सा है। यही कुरु देश है और उसका पड़ोसी [illegible] देश है, जहां के राजाओं दिवोदास और सुदाम पिता-पुत्र के समय [illegible] रचयिता प्राचीनतम ऋषि विश्वामित्र, वशिष्ठ और भरद्वाज [illegible] भूमि में याज्ञवल्क्य, उद्दालक आदि उपनिषद् के आदिम और [illegible] पैदा हुए। और तो और, बुद्ध के गम्भीर दर्शन [illegible] क्यों दिये गये, इस पर त्रिपिटक के अट्ठ-कथाकार [illegible] है कि कुरु देश की प्रकृति और प्रजा, स्वभावत:, [illegible] हुए भी हमे ही नही, बल्कि कुरु निवासियों को [illegible] बल्कि किसी दूसरे भू-खंड की भाषा [illegible]

कारों और अधिकारी पुरुषों और महिलाओं से कई बार इसके बारे मे कहा, लेकिन अधिकतर वह अरण्य-रोदन सा रहा। लेकिन मैं यह नही मानता कि अदूर भविष्य मे वह अपने इस कर्त्तव्य का पालन नहीं करेंगे।

कुछ लोगो ने मेरे कहने पर पहले वड़ा उत्साह दिखलाया, और मुझे मालूम हुआ कि अब नैया पार लग जायेगी। लेकिन बहुत बार निराश होकर मैं अपनी आदतवश किसी कौरव अधिकारी पुरुष या महिला को देख कर लोक-साहित्य का संग्रह करने के लिए कहे बिना नहीं रहता—लेकिन आशा के भाव लेकर नही। इसी तरह मैने साहित्यिक रुचि रखने वाली एक तरुण महिला से भी कह दिया था। मै भूल-सा गया था कि उनको मैंने विशेष प्रेरणा दी थी। कई महीनो बाद उनका यह पत्र पाकर बड़ी प्रसन्नता हुई :

"आपको मेरा यह पत्र देख कर आश्चर्य होगा। आपके आदेशानुसार... यहां सहारनपुर जिला के गीत जमा कर रही हूं। दो सौ गीत अभी तक हो पाये। गीतों के अधिक होने की आशा है। कहानिया अभी बहुत कम हो पायी हैं...यहां पर गीत आदि जमा करने मे मुझे अच्छे अनुभव हो रहे हैं—मुझे अच्छा लग रहा है।" (२१ दिसंबर १९५२)।

महिला हिन्दी में एम. ए हैं और कुरु देश की पुत्री है। इसलिए वह अधिकारपूर्वक इस काम को कर सकती है।

लेकिन कौरवी का लोक-साहित्य एक आदमी के संग्रह के मान का नही है, यद्यपि यदि एक आदमी भी अपने जीवन के बीस-पच्चीस साल अर्पित कर दे, तो गुजरात के मेघाणी की तरह वह बहुत काम कर सकता है। लोक-साहित्य का संग्रह करने में जितनी सावधानी पश्चिमी देशों, और विशेष कर रूस में, रखी गयी है—और उसके सर्वांगीण महत्व को कायम रखने के लिए उसकी आवश्यकता भी है—वैसी अभी हमारे देश मे नही हो पायी है।

सोवियत देशों में लोक-गीतो को जहा बोलने वाले के ठीक उच्चारण के साथ उतारने की कोशिश की गयी, वहां हर एक गीत की स्वरलिपि भी दे दी जाती है। इन स्वर लिपियो के तुलनात्मक अध्ययन से लोक-गीतों के वश और प्रसार के इतिहास पर भारी प्रकाश पडता है। यद्यपि हम हर एक लोक-गीत संग्राहक से आशा नहीं रख सकते कि वह गायक या सगीत से परिचित होगा, लेकिन यह अच्छा होगा, यदि स्वरलिपि का ज्ञान रखे। किताबी हिन्दी ने कुरु देश के नगरों मे सर्वत्र अपना प्रभुत्व स्थापित कर दिया। शिक्षित तो कौरवी बोलना पसंद नही करते, और अशिक्षित भी शिक्षितों की नकल करके अधिक से अधिक शब्दों को बिगाड़ कर बोलने का प्रयत्न करते है। शिक्षा के प्रसार के साथ गावों में भी इसका प्रभाव बड़े जोर से पड़ रहा है, और डर है कि एकाध ही पीढ़ी मे कौरवी के बहुत से शुद्ध रूप नष्ट या विकृत हो जायेंगे। इसलिए भी हमें जल्दी करने की आवश्यकता है। ●

ग्वालियर और हिन्दी कविता

मार्च १९५५ की भारती में प्राचीन ग्रंथों के प्रसिद्ध खोजी श्री अगरचन्द नाहटा ने 'ग्वालियरी हिन्दी का प्राचीनतम ग्रंथ' के नाम से एक लेख लिखा था। उसमें उन्होंने कृष्ण रुक्मणीरी वेलि पर १६८६ संवत् (१६१९ ई.) में जयकीर्ति रचित टीका का निम्न वाक्य उद्धृत किया है :

ग्वालेरी भाषा गुपित, मन्द अरथ मति भाव।
बात बन्ध किय भाषवितु, समझन तिय सम भाव॥

इससे मालूम होता है कि गोस्वामी तुलसीदास के काल में 'ग्वालेरी भाषा" में भी कविता होती थी। उसी लेख में, उससे सौ वर्ष पहले संवत् १५५७ (ई. १५००) में ग्वालियर में ही थेघनाथ ने भगवद्गीता की एक भाषा-टीका राजा मानसिंह के शासन काल में लिखी थी, इसका भी उल्लेख है। इसमें ग्वालेरी भाषा होने का उल्लेख नहीं है, पर भाषा से थेघू के वास-स्थान की भाषा, अर्थात् "ग्वालेरी" ही उसे होना चाहिए। जयकीर्ति ने जिस ग्वालेरी भाषा वाली टीका के बारे में कहा है, उसका कर्ता [illegible] है, जो अपनी पुस्तक की भाषा को 'ब्रज भाषा' कहता है, अर्थात् ब्रज भाषा और ग्वालेरी भाषा को एक समय पर्याय माना जाता था। वस्तुतः बुन्देली और ब्रज की भाषाएं एक दूसरे से इतनी समानता रखती हैं कि आज भी कितने ही ब्रज भाषा-भाषी बुन्देली को ब्रज की एक बोली कहते हैं, और जिसे आज के बुन्देले पसन्द नहीं करते। जब आज इतनी समानता है, तो आज से साढ़े तीन सौ वर्ष पूर्व तो वह और भी अधिक रही होगी। अस्तु, यह तो निश्चित है कि सूर और तुलसी के समय और पहले भी ग्वालेरी भाषा में कविता होती थी। जान पड़ता है, तुगलकों के शासन के अन्त में दिल्ली और मध्यदेश के कमजोर पड़ने पर ब्रज-ग्वालेरी भाषा के क्षेत्र में जो राज्य कायम हुआ, उसका केन्द्र ग्वालियर था, इसीलिए ब्रज-बुन्देलखंडी का नाम ग्वालेरी भाषा भी कहा जाने लगा।

मृत्यु १६३१ ई. (तुलसी की मृत्यु से आठ साल बाद) हुई थी। इसने दखिनी हिन्दी में एक गद्य काव्य सबरस लिखा है, जो हाल में नागरी अक्षरों में हैदराबाद से छपा है। सबरस हिन्दी के सबसे पुराने गद्य ग्रन्थों में है। इस ग्रन्थ में वजही ने छह दोहरे (दोहे) उद्धृत किये हैं, जिनमें निम्न तीन ग्वालेरी के कहे हैं, जैसे :

> होर ग्वालेर के चातुरां गुन के गुरां...यों बोले हैं :
> पोथी थी सो खोटी भई,- पंडित भया न कोय।
> एकै अच्छर पेम का, पढ़ै सो पंडित होइ॥ (पृष्ठ १)

ग्वालियर के कवियों को यह महाकवि चातुर और गुण के गुरु या आगर कहता है। दूसरी जगह वह फिर कहता है :

> होर ग्वालेर के सुजान यों बोलते हैं जान, दोहरा—
> धरती म्याने बीज धर, बीज बिखर कर बोय।
> माली सींचे सिर खड़ा, रुत आये फल होय॥
>
> (पृष्ठ १८१, अंजुमन तरक्की उर्दू प्रकाशन)

ग्वालियर के सुजान कमाल के दोहरे बोलते थे, इसे कहने की आवश्यकता नहीं। तीसरे स्थान पर वह कहता है :

> जहां लगन ग्वालेर के है गुनी, उनोंते बी यो बात गई है सुनी—
> जिनको दरसन इत्त है, तिनको दरसन उत्त।
> जिनको दरसन इत्त नहीं, तिनको इत्त ना उत्त॥ (पृष्ठ २४१)

वजही ने निम्न दोहरो को उद्धृत करते ग्वालेर का नाम नहीं लिखा है, पर इनकी भाषा ग्वालियर के टकसाल की हैं, इसमें सन्देह नहीं

> सात सहेली एक पिउ, चउंधर पिउ-पिउ होय।
> जिस पर पिउ का प्यार है, सो धनि बिरली कोय॥ (पृष्ठ २२)
> सीउ सत्त ना छाडिये, सत छाड़े पत जाय।
> लछमी सत की दासि हैं, पग लागे घर आय॥ (पृष्ठ १६६)

निम्न दोहरे को उसने 'दखिनी दोहरा' कहा है :

> तेरे करतब कारने, मैं चुप होइ बदनाम।
> मैं म्याने ते उठ गयो, तूं जाने तेरा काम॥ (पृष्ठ २२६)

बाकी बचे एक के बारे में वजही कहता है :

ज्यों खुसरो कहता है, बैत—
पंखा होकर मै झली, साती तेरा चाव।
मुंज जलतो (के) जन्म ग्या, तेरे लेखन बाव॥ (पृष्ठ २१८)

खुसरो—फारमी के महान कवि—ने हिन्दी में भी कविताए की थी, इसमें सन्देह नहीं है। पर खुसरो के नाम से जितनी *पहेलिया-मुकरियां बतलायी* जाती हैं, उनके खुसरो की होने में सन्देह है। खास कर उनके उच्चारण तो बिल्कुल पीछे के है। खुसरो का जन्म जिस पटियाली में हुआ था, वह व्रजभाषा-ग्वालेरी क्षेत्र मे है। यह बिलकुल संभव है, सूर के पहले, अर्थात् कृष्ण-भक्त कवियों के व्रज भाषा पर छा जाने के पहले, कविता की उस भाषा को राज-नीतिक-सांस्कृतिक केन्द्र होने के कारण ग्वालेरी कहा जाता था। पीछे ग्वालेरी कहने की आवश्यकता नहीं रही, जब ग्वालियर का हिन्दू राज्य खतम होकर मुगलों के राज्य मे मिल गया।

यह भी उल्लेखनीय बात है कि जिस कविराज स्वयंभू रचित (अपभ्रंश) **रामायण** के प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट करते हुए **रामचरितमानस** के अन्त में 'यत् पूर्व प्रभुणा कृतं सुकविना श्रीशंभुना' कह कर याद किया गया है, उसकी एक दुर्लभ कृति संवत् १५२१ ज्येष्ठ सुदी १० बुधवार (सन् १४६४ ई.) मे इसी गोपाचल (गोपालगिरि, ग्वालियर) मे लिखी गयी थी। जीवित भाषा के तौर पर समाप्त हो जाने के साढ़े तीन सौ वर्ष बाद इस अनुपम कृति का लिपि-बद्ध कराना बतलाता है कि ग्वालियर में कितनी गुणग्राहकता थी। ●

मारवाड़ी और पहाड़ी भाषाओं का संबंध

जिन पहाड़ी भाषाओं का मारवाड़ी भाषा से घनिष्ठ संबंध है, वे जम्मू की सीमा से दार्जिलिंग तक बोली जाती हैं। उनके नाम हैं : (१) चम्बियाली, (२) भरमौरी, (३) पगियाली, (४) कुलुई, (५) मंडियाली, (६) महासुई, (७) जौनसारी, (८) गढ़वाली, (९) कुमाऊनी, (१०) नैपाली (गोरखाली)।

इन भाषाओं का क्षेत्र (हिमालय) कहीं भी मारवाड़ी से लगा नहीं है। इनके दक्षिण की पड़ोसी भाषाएं हैं :

	पहाड़ी	दक्षिण की पड़ोसिनें	उनका संबंध
१.	चम्बियाली	भट्टियाली	पंजाबी से
२.	भरमौरी	चंबियाली, मंडियाली	मारवाड़ी
३.	पगियाली	चम्बियाली	"
४.	कुलुई	मंडियाली, महासुई	"
५.	मंडियाली	कांगड़ी	पंजाबी
६.	महासुई	जौनसारी, गढ़वाली	मारवाड़ी
७.	जौनसारी	गढ़वाली	"
८.	गढ़वाली	कौरवी, रुहेली	हिन्दी, ब्रज
९.	कुमाऊनी	रुहेली	ब्रज
१०.	नैपाली	अवधी, भोजपुरी, मैथिली	कोसली, मगही

मारवाड़ी मुख्यतः जोधपुर, बीकानेर और पश्चिमी जयपुर की भाषा है। उसकी बड़ी पहचान है—हिन्दी 'का' के लिए 'रा', 'गा' के लिए 'ला', और 'है' के लिए 'छे' का प्रयोग। ये ही तीनों कुंजी के शब्द है, जो उपर्युक्त भाषाओं का मारवाड़ी से संबंध स्थापित करते हैं, जैसे कि भूतकालिक क्रिया के 'इल', 'अल', 'अेल' और 'ल' प्रत्यय भोजपुरी, मैथिली, मगही, उड़िया और असमिया का संबंध बंगला से स्थापित करते है, जिसका कारण इन सभी भाषाओं का मागधी प्राकृत की पुत्री मगही अपभ्रंश की सन्तति होना है। मारवाड़ी और उपर्युक्त दस पहाड़ी भाषाओं का रा-ला-छे के संबंध द्वारा कितना पारस्परिक संबंध है, इसके उदाहरण हम अभी देने जा रहे हैं। ये पहाड़ी भाषाएं पूर्वी, मध्य और पश्चिमी पहाडी में विभक्त की जा सकती है। पर

हिमालय के इन भूखडों में अ-च्छिद्र और अखंड रहने भी पश्चिम, मध्य और पूर्व हिमालय की तराई से सनातन हिमालय तक इनका अखंड अधिवास नहीं है। हिमालय के पास वे बहुत कम जगह पहुंच पायी हैं, इसीलिए सारे उत्तरी सीमांत पर हिमालय के पार बोली जाने वाली तिब्बती के साथ इनका सीधा सम्पर्क पंगियाली, कुलुई के ही सीमात पर होता है, नहीं तो सभी जगह कोई किराती बोली—मनचात् (लाहुल), कनौरी, मारछा, आदि—बीच में आ जाती है। चम्बियाली और महासुई ऐसी रा-ला-छे वंश की पहाड़ी बोलियां हैं, जो भौगोलिक तौर से मारवाड़ी के सबसे समीप पडती है, पर चम्बियाली और मारवाड़ी के बीच में मट्टियाती (पंजाबी), फिर पूर्वी-पंजाबी आ पड़ती है। मंडियाली और मारवाड़ी के बीच में कागड़ी (पंजाबी), फिर पूर्वी पंजाबी। इसी प्रकार मारवाड़ी और महासुई के बीच में भी कही पूर्वी पंजाबी और कही कौरवी और हरियाणी आती है।

पहाड़ी भाषाएं मारवाड़ी से इतनी अलग-थलग होने पर भी मारवाड़ी के साथ क्यो इतना घनिष्ठ संबध रखती है?

इसका कारण एक तो वही है, जिसे पहाड़ के प्रायः सभी राजवश मानते है, अर्थात् उनका उद्गम राजस्थान है। वे सभी अपने को मुसलमानों के आदिम प्रहार के कारण शरणार्थी बने राजकुमारों की सन्तान मानते है—गोरखा, कुमाऊं, गढ़वाल, सिरमौर, कहलूर (बिलासपुर), कुल्लू, मंडी, कागडा, नूरपुर—सभी राजवंशों की परम्परा इसी बात को दुहराती है। इस तोता-रटंत को सुन कर सन्देह पैदा हो जाता है कि क्या पहाड़ में अपना राजवंश कायम करने वाले तैयार नहीं हो सकते थे? यह बिलकुल संभव है कि किसी पहाडी पराक्रमी पुरुष ने अपना राज्य कायम किया, फिर उसके उत्तराधिकारियों ने अधिक प्रतिष्ठा प्राप्त करने के ख्याल से किमी मैदानी सूर्यवंशी या अग्निवंशी राजवंश के साथ संबंध जोड़ना चाहा। अधिकाश दावों को हम विश्वसनीय नही मान सकते। अगर मान भी लें कि वंश-स्थापक राजस्थान से आये थे, तो भी मुट्ठी भर भगोड़े कैसे सारे पहाड़ की पुरानी भाषा को हटा कर अपनी भाषा वहा चला सकते? सो भी अभी आठ-नौ शताब्दियों पहले?

राजकुलों के कारण भाषा-विस्तार की जगह यह मानना अधिक युक्तियुक्त मालूम होता है कि पहाड़ में जो जातियां आज रा-ला-छे भाषाएं बोलती हैं, उनके पूर्वज कबीले मारवाड़ी-भाषी लोगों के पूर्वज कबीलों के सगे-संबंधी थे। पहाडी लोग अधिकतर राठी, कनेत और खस हैं। राठी, कनेत और खसों की ही शाखाएं हैं—नेपाल-कुमाऊं-गढवाल में। जिन्हें खस कहते हैं, वे ही पूर्वी हिमाचल प्रदेश में कनेत, कुलू मे भी कनेत, और चंबा-कांगड़ा में राठी कहे जाते हैं।

खस ऐतिहासिक महत्व की जाति है। यह पहले मध्य एशिया में रहती थी, जहां से चरागाहों की खोज में अपनी भेड़-बकरियों को लिये घुमक्कड़ी करते पामीर से नेपाल तक छा गयी। इसीलिए हिमालय के भिन्न-भिन्न भागों में उस नाम की छाप मिलती है—काशगर (खशगिरि), कसकर (गिलगित प्रदेश, खदासगिरि), कश्मीर (खशस-जगत्), खसकुरा (खस-भाषा, नैपाली भाषा)।

खसों की ही एक शाखा शक थे, जो खसों के सहस्राधिक वर्ष बाद ईसा की प्रथम शताब्दी में भारत आये। जाट, आभीर, गूजर और अग्निवंशी राजपूत शकों में से है। शक मैदान से पहाड़ में भी गये होंगे, खास कर वे जो पशुपालन के अपने पैतृक पेशे को ज्यादा पसन्द करते थे, जैसा कि आज भी उनकी सन्तानें भैंस पालने वाले मुसलमान गूजर कर रहे है।

पाकिस्तान बनने पर पश्चिमी हिमालय के सारे मुसलमान पाकिस्तान भागने के लिए मजबूर हुए, पर गूजर अपने में से सौ-पचास को खोकर भी अपने पुराने जीवन पर आरूढ़ रहते, जाड़े में मैदान या सिवालिक में और गरमी-बरसात में आठ-दस हजार फुट ऊंची हिमालय की घास की ढलानों में पशु-चारण कर लेते हैं। जो भी हो, खस-शक-संबंध ही पहाड़ और मरुभूमि में ऐसा मालूम होता है, जिससे **रा-ला-छे** की गुत्थी कुछ सुलझती मालूम होती है।

'अस्ति' के असति, असइ रूप के आगे चल कर सइ (सै), छइ (छै), हइ (है) तीन रूप बने, जिन्हें क्रमशः हरियाणी, मारवाड़ी और कौरवी (हिन्दी) ने अपनाया। यहां शक-वंशी जाट लोगों की, गूजरो, अहीरों और राजपूतो की प्रधानता देखी जाती है। इसमें शक नही कि **'है'** का प्रयोग कौरवी ही नहीं, बल्कि पंजाबी में भी होता है, जो दोनों **रा-ला-छे** भाषा-वंश से भिन्न हैं। शायद इस विषय पर और भी प्रकाश पड़े, यदि पहाड़ और मरुभूमि के **रा-ला-छे**-भाषियों के जाति-गोत्रों और रीति-रिवाजो का तुलनात्मक अध्ययन किया जाय। चम्बा के कितने ही वैवाहिक रीति-रिवाज राजस्थान से मिलते हैं। *हम यह नहीं कह सकते कि वे इतनी निर्णायक मात्रा में पाये जाते हैं।* उनकी समानता का यह भी कारण हो सकता है कि दूसरे स्थानों के लोगों ने मुस्लिम-काल में अपनी कितनी ही प्रथाओं को छोड़ दिया, जब कि पहाड़ी लोग अपने पाषाण-दुर्ग के कारण और राजस्थानी लोग अपने पुरानी सामन्ती शासन के अभेद्य कवच के कारण, अपने बहुत-से रीति-रिवाजो को कायम रखने में समर्थ रहे। पर यहां यह भी ध्यान देने की बात है कि राजस्थान का सामन्ती शासन वस्तुतः उतना अभेद्य कवच नही साबित हुआ, जैसा कि हम उसे मानना चाहते हैं। राजस्थान की कट्टर रानिया भी मुगल हरम से इतनी प्रभावित हुई थी कि वे लंहगा-चुनरी छोड़ कर पेशवाज पहनती थी, जिसे

उन्होंने वर्तमान शताब्दी में ही छोड़ा। चम्बा की संभ्रान्त महिलाएं तो इस बीसवीं सदी के उत्तरार्ध में भी पेशवाज-धारिणी हैं।

रा-ला-छे कुंजी के तीन शब्द हैं,' जो पहाड़ी भाषाओं को मारवाड़ी के समीप लाते हैं। पर इनमें से 'छे' सबसे कमजोर कुंजी है, क्योंकि वह गुजराती, मैथिली, बंगला और तत्संबंधी भाषाओं में भी पाया जाता है, जो यद्यपि नैपाली की पड़ोसिनें हैं, तो भी उनका संबंध मागधी प्राकृत और मागधी अपभ्रंश-वंश से है। 'रा' (का) 'छे' से कुछ अधिक मजबूत है, पर नैपाली में उसका अभाव है। 'ला' ही केवल ऐसा कुंजी-शब्द है, जो पहाड़ और मरुभूमि दोनो में एक-सा प्रयुक्त होता है।

तीनों कुंजी के शब्दों में से 'रा' (का) अभाव नैपाली में है, और 'छे' का अभाव कुलुई, चम्बियाली आदि में। यह उनके निम्नलिखित उदाहरणों से मालूम होगा—

१. चम्बियाली :

"इस मभा दो-और अक्खर सिक्स्या करा तासे फिरी ओखी नी बूझीली।" (बूझेगा) "इक ध्याडेरी गल्ल है।" (डाक्टर हचीसन की मेरी नौ पोथी, पृष्ठ १,११).

२. मरमोरी (चम्बा) :

"हंउ ता मरदे पेटा 'री' पीड़ा, घर-घर तुं चेला कहांदा...गौरी पंछदी तु मेरी क्या हो 'ली'?" (मेरा हिमालय प्रदेश, खंड ४).

३. पंगियाली :

"बब्बे'रा' (बापका), मारल (मारूंगा)"। (वही.)

४. कुलुई :

"एइ'री' कीमत ढाई रुपया स (है) यू कल जाणा (जाउंगा)"। (वही.)

५. मंडियाली :

"कुलू शहरा 'रे' मंदिर देखे, हो मंडी 'री' देखणी लारी मां कल जाण।" (वही.)

६. महासुई (बघाटी) :

"तेरे बौआ'रे' गरे को बेटो ओस्सो औ 'ला' (आवेगा) ?" (वही.)

७. गढ़वाली :

"एक बैनसा दुइ भारी नामी मैंड छया"

"कब औ 'ला' (आवेगा) स्वामी मैं कदु गाणी ?" (गढ़वाल, पृष्ठ २८८, ४६६.)

८. कुमाऊनी :

"मैं नी जमाता पढ छ्यूं (हूं),...मैं बी. ए. पास करू लो।" (**कुमाउं**, अध्याय, १२.)

९. नैपाली :

"...यहां कुशल, ताहां चरणारबिन्द क्षेम कुशल नै हमारो उद्धार हो'ला' (होगा) आगे यहां को समाचार भलो'छ'...महेश्वर पन्थ को छोरा बीरभद्र पन्थ समेत आठ दस मानिस जुमला जान् छन्।" (पृथिवीनारायण शाह का सवत् १८३१ (१७७४ ई.) में लिखा सिद्ध भगवन्तनाथ के नाम पत्र, **गोरखा-वंशावली**, शिवराम प्रेस, काशी, पृष्ठ १४०,१४१.)

"यो जीवन एक वीणा हो... यी नसाहरूमा अवहेलना न राख, खिरखिरी लाग्ला (लगेगा) यी आंखामां ईर्ष्या न राख, विषयक वाण रगतमा लाग् ला।" (**लक्ष्मीनिबंध-संग्रह**, नैपाल, संवत् २००२, पृष्ठ २३३.)

१०. मारवाड़ी :

"महाराजश्री कल्याणमल बिक्रम नगरि राज करै छै। तिण समय दिली पातिसाह श्री सेरसाह राज करैछै। तिणरे (तिसके) पुत्र सलेमसाह् साहिजादो बड़ो अदली हुये। तिण समै जोधपुर राव मालदे राज करै छै।" (संवत १६५६ (१५९९ ई.) में लिखित **दलपतिबिलास**, **मरुवाणी**, असाढ़ २०१०, पृ. २४.)

"विभक्तियों में 'का', 'की', 'गा', 'री' जगां रा, री, भविस्यत् क्रिया मे जाओंगा, जाउं गारी जगां जाओ'ला', जाउं'ला', भूतकाल नै वरतमान में गये छो, गयो हो, जाउं छूरी जगां गयो थो, जाउं हूंरो व्यवहार करणरी अरज है।" (**मरुवाणी**, असाढ़ २०१० के टाइटल पेज के भीतर का विज्ञापन)।

पहाड़ी भाषाओं का मारवाड़ी भाषा के साथ यह घनिष्ठ संबंध भाषा-शास्त्रियों और नृवंशवेत्ताओं के अध्ययन का विषय है। शायद इनके लोक-साहित्य के साथ कितनी ही जातियों के रीति-रिवाजों और पुराने वस्त्राभूषणों का अध्ययन भी इसमें अधिक सहायक हो।

हिन्दी की मूल-भाषा कौरवी बोली है

पंडित अम्बिका प्रसाद वाजपेयी हिन्दी के उन वृद्ध पितामहों में हैं, जो इस उमर में भी "हनोजम् जवानस्त मुश्कीं कलम्" कह सकते हैं। आज भी उनकी कलम अनवरत चल रही है, और सो भी भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में अधिकारपूर्वक। भारती के प्रथम अक में उनका एक विचार- उत्तेजक लेख "क्या हिन्दी मेरठ की बोली है ?" के शीर्षक से छपा है। "वादे वादे जायते तत्त्वबोधः" के विचार से मैं अपने विचारों को इस संबंध में रखना चाहता हूं। मैं उन आदमियों मे हूं, जो हिन्दी को कुरु देश की बोली का साहित्यिक रूप मानते हैं। मेरठ सारा कुरु नही है। वह मेरठ-कमिश्नरी के मेरठ, मुजफ्फरनगर, सहारनपुर के तीनों सपूर्ण जिलों, बुलन्दशहर की सिकन्दराबाद तहसील, सदर-तहसील के भी कुछ इलाको तक (गगा और जमुना के बीच में) फैला हुआ था। उसके पश्चिम में *जमुना-पार भी कुरुओं का ही जनपद था, जो अधिकतर गैर-आबाद होने के* कारण कुरु-जागल कहा जाता था। मानव-श्रम और धन की कमी के कारण ही दुर्योधन ने पाडवों को उसे देकर टरकाया था। प्राचीन काल का कुरु जनपद अब भी अपनी बोली के रूप में एक इकाई है। हां, अपभ्रंश काल से बाहर निकलते समय जब "अस्ति" के नये रूप को अपनाया जाने लगा, तो गंगा-जमुना के बीच के कुरु ने 'स' की जगह 'ह' स्वीकार किया, और कुरु-जांगल के आधुनिक प्रतिनिधि हरियाणा ने 'स' का 'स' ही रहने दिया। इस प्रकार कुरु वाले 'है' बोलने लगे और हरियाणा वाले 'सै'। जिस बोली (कौरवी) से आज की शिष्ट हिन्दी विकसित हुई, वह गंगा-जमुना की रेखाओं से बंधने के लिए तैयार नही हुई, यह इसी से सिद्ध है कि उसके बोलने वाले जहां करनाल और अंबाला जिले में बसे हुए हैं, वहां गंगा के पूरब कुछ भागों को छोड़ कर सारे बिजनौर जिले मे कौरवी बोली जाती है। उत्तर में सिवालिक भी उसको रोक नही सका, और आधुनिक कौरवों ने उसे लाघ कर देहरादून की दून को जाकर आबाद किया, यद्यपि आबाद करने वालों मे वे अकेले नही रहे, बल्कि कितने ही गढवाली, कुछ पुरबिये (अवधी-भाषी) भी आ बसे। हाल मे पाकिस्तान बनने के बाद पजाबी-भाषी भी वहां रह रहे है। जहां तक देहरादून शहर का संबध है, वहा सबसे अधिक पजाबी बोली जा रही है। शायद यह थोड़े दिनों की बात है। आने वाली पीढ़ियां इनसे भी पहले आये खत्रियो और सारस्वतों का अनुसरण करेगी।

हम कह चुके हैं कि हरियाणा (कुरु-जांगल) की बोली में 'है' के स्थान पर 'सै' होता है। पर हम कह सकते हैं कि हरियाणी और आधुनिक कौरवी आज भी एक ही भाषा हैं, यदि 'है' 'सै' के एक-दो भेदों को छोड़ दिया जाये। इस प्रकार प्रान्तों का पुनर्निर्माण करते समय यदि पुराने कुरु और कुरु-जांगल को एक प्रदेश में परिणत करने की माग की जाय, तो वह भाषा और स्थानीय संस्कृति के आधार पर बिल्कुल उचित है।

कोई भी साहित्यिक या शिष्ट भाषा आकाश से नही उतरती, उसका किसी-न-किसी बोली से विकास होता है। विद्वान यह भी मानते हैं कि जिस साहित्यिक भाषा का अपनी बोली से अटूट संबंध रहता है, वह बड़ी सजीव होती है। मुहावरे, सकेत आदि जितने भाषा को सबल बनाने वाले तत्व हैं, वह बोलियो की देन हैं। जिस साहित्यिक भाषा का अपने मूल-स्रोत—बोली—से संबध टूट जाता है, उसकी सजीवता बहुत कुछ नष्ट हो जाती है। भारत की सभी साहित्यिक भाषाएं अपनी बोलियो से अक्षुण्ण सबध रखती है, हिन्दी ही इसका एकमात्र अपवाद है। इसलिए भी हमे यह जानने की बड़ी आवश्यकता है कि हिन्दी का किस बोली से संबध है, ताकि हम फिर उसके टूटे हुए सबंध को स्थापित कर सके। साहित्यिक हिन्दी का उसकी मूल भाषा से सबध स्थापित करना, तथा उसे जानना हमारे लिए केवल बौद्धिक शौकीनी की चीज नही है। पिछली शताब्दी मे जब हमारे यहां की बोलियों और भाषाओं का वैज्ञानिक अनुसधान होने लगा, उसी वक्त जाना गया कि साहित्यिक हिन्दी मेरठ जिले के आसपास की बोली का ही साहित्यिक रूप है। अब शायद ही कोई भाषा-विज्ञानी हो, जो इस निश्चय के प्रति सन्देह उठाता हो। लेकिन, बाजपेयी जी ने दृढता पूर्वक इस विचारधारा के खिलाफ आवाज उठायी है। उन्होंने कहा है, "हमें इस भ्रम में न रहना चाहिए कि मेरठी ही हिन्दी है" (पृष्ठ ५)। "हिन्दी को मेरठी बताना सत्य से विपरीत है" (पृष्ठ ८)। "वर्तमान हिन्दी मेरठी नही है" (वही)। "इन्हे पढ़ने के बाद कौन कह सकेगा कि मेरठी बोली ही हिन्दी की जननी है" (वही)।

वाजपेयी जी ने लिखा है, "पहले पहल हमने स्व. बाबू जगन्नाथदास 'रत्नाकर' के मुंह से यह बात सुनी थी। कलकत्ते के हिन्दी साहित्य-सम्मेलन मे सभापति रूप से जो भाषण उन्होंने पढ़ा था, उसमें यह प्रश्न उठाया था कि मेरठी में तो क्रियापदों में लिंग-भेद नहीं होता, जो वर्तमान हिन्दी का आधार है। पर हिन्दी में क्यों होता है?" रत्नाकर जी की उठायी इस शंका को वाजपेयी जी भी मानते हुए मालूम होते हैं। पर किसने कहा कि मेरठी मे क्रियापदों में लिंग-भेद नहीं होता। मेरठ जिले के मवाना तहसील के किठौर

परगने के गांव वली (हस्तिनापुर से १५ मील) की रहने वाली रामनमाई की कही हुई एक कहानी के कुछ वाक्य सुनिए :

"एक ता विरामन, एक ती विरामनी। दोन्नो के दो लड़के ते। घर में चिड़ियों ने घोसला बना रखा ता, चिड़ी मर गई, चिड़ा दूसरी चिड़ी लाया"। (आदि हिन्दी की कहानियां, पृष्ठ ८४)।

शायद क्रिया में लिंग-भेद न होने का मतलब सहायक नहीं मुख्य-क्रिया समझ लिया गया हो, जो हिन्दी में बहुत कुछ यांत्रिक रूप से अपनायी गयी है। कौरवी बोली मे संस्कृत-पाली-प्राकृत-अपभ्रंश की तरह भी क्रियायों का रूप होता है, जिसमें लिंग की आवश्यकता नही समझी जाती। जैसे :

"एक राज्जा की बेट्टी का ब्या ता। कुमार (कुम्हार) का आवा पक्के नी ता। आंवा भेट लेवे ता, जब पक्के ता। राज्जा का हुकम ता। गांव के घर-घर से एक-एक आदमी भेंट चढ़े ता। एक बुढिया के एकई बेट्टा ता। उसकी बारी आई। वो घर लिपती जाये, रोत्ती जाये—'मेरे बेट्टे का बार आया'। संकट देवता आया। उसने क्या—'अरी बुढ़िया, तू क्यों रोवे ?'"

यहाँ पक्के, लेवे, चढ़े, रोवे, में संस्कृत से चली आती परंपरा का पालन करते हुए लिंग-भेद नही है। 'रोवे ता' की जगह 'रोता था' 'पक्के ता' 'पकता था', यह यांत्रिक प्रयोग साहित्यिक हिन्दी का काम है, जिसे बोली को साहित्यिक रूप देने वालों ने किया। पक-ए, लेव-ए मे ए प्रत्यय लगा कर धातु से क्रियायें बनायी जाती हैं। शब्दों के रूपान्तरित होने का कारण लाघव होता है। पक्के, चढे मे पकता, चढता से अधिक लाघव है, क्योंकि जहां इसमें हमें पकता, पकती, पकते तीन रूप लाने होते है, वहां कौरवी बोली मे एक ही रूप (ए या ऐ प्रत्यय) से काम चल जायगा। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि ए या ऐ संस्कृत के उसी वर्तमानकालिक प्रथम पुरुष के एक वचन अ-ति प्रत्यय का घिसा हुआ रूप है। यह कहना ठीक नहीं है कि चूंकि कौरवी में करता है, जाता है, पकता है, चढ़ता है, जैसा प्रयोग आता ही नहीं, इसलिए कौरवी हिन्दी की जननी नहीं है। वस्तुतः कौरवी ने संस्कृत-पाली-प्राकृत-अपभ्रंश के प्रवाह के अनुरूप क्रिया रूप को कायम रखा।

वाजपेयी जी ने हिन्दी भाषा के विकास को अत्यन्त संक्षेप में बतलाते हुए कहा है कि "वह संस्कृत से प्राकृत में पहुंच महाराष्ट्री और शौरसेनी के मिश्रण से नागर के रूप मे परिणत हो गयी, और यही नागर प्राकृत कालान्तर में आगे चल कर नागरी भाषा मे बदल गयी, जिसका आधुनिक नाम हिन्दी है।" (भारती, पृष्ठ ७)। भाषा के विकास का बहुत सरल और सुगम रास्ता वाजपेयी जी ने बतला दिया, यानी, महाराष्ट्री और शौरसेनी प्राकृत के मेल से बनी नागर प्राकृत कालान्तर में नागरी भाषा अर्थात आधुनिक हिन्दी में बदल गयी।

यह यह मह तो गये, पर उन्हें अपने कहने में स्वयं त्रुटि मालूम हुई, इसलिए यह भी लिखने के लिए मजबूर हुए, "वर्तमान हिन्दी के अनेक शब्दों, संज्ञा और सर्वनाम-पदों तथा क्रियापदों और अव्ययों की यदि हम हेमचन्द्र सूरि के प्राकृत व्याकरण में दिये अपभ्रंश के दोहों की भाषा से तुलना करते हैं तो स्पष्ट हो जाता है कि अपभ्रंश से हिन्दी की उत्पत्ति होना युक्तिसंगत है।" शायद वह नागर प्राकृत से हिन्दी की उत्पत्ति और अपभ्रंश से हिन्दी की उत्पत्ति में कोई विरोध नहीं समझते।

पर ऐसा मानने का अर्थ हुआ, नागर प्राकृत और अपभ्रंश दोनों एक ही चीज हैं। यह तो जानते ही हैं कि प्राकृत के बाद अपभ्रंश का काल आया। इसलिए वह व्याख्या करते हुए यह भी कह सकते हैं कि नागर प्राकृत से अपभ्रंश और अपभ्रंश से हिन्दी पैदा हुई। वह प्राकृत युग की दो भाषाओं महाराष्ट्री और शौरसेनी के एक संकर-भाषा नागर प्राकृत के रूप में परिणत होने को मानते हैं, लेकिन यह बतलाने के लिए तैयार नहीं है कि यह संकरीकरण या मिश्रण उधार लिये शब्दों के रूप में हुआ, या नाम और धातु के साथ लगने वाले सुबंत और तिङन्त प्रत्ययों में, अथवा उच्चारण में व्यत्यय हुआ। यह मानना मुश्किल नहीं है कि शौरसेनी किसी पिछड़े हुए भूभाग की (वर्तमान ब्रजभाषा की भूमि की) भाषा हो और महाराष्ट्री उससे अधिक सभ्य और शिष्ट भूभाग की; फिर दोनों के मिश्रण से एक तीसरी बोली तैयार हो। वर्तमान हिन्दी आज की सभ्य और शिष्ट भाषा है, और अवधी तथा भोजपुरी पिछड़ी हुई भाषाएं हैं। हम देखते हैं, अवधी-भाषी या भोजपुरी-भाषी ग्रामीण क्षमता न रखते हुए भी जब हिन्दी बोलने की कोशिश करते हैं, तो दोनों का संकर होकर एक विचित्र-सी भाषा बन जाती है, जो न अवधी के मान पर ठीक उतरती है और न हिन्दी के। यदि इसी तरह का सम्मिश्रण महाराष्ट्री और शौरसेनी में हुआ हो, तो इसे इनकार करने की आवश्यकता नहीं। पर, उसे नागर भाषा कैसे कहा जा सकता है? नागर के दो ही अर्थ हो सकते हैं—सभ्य-शिष्ट भाषा, या किसी नगर-विशेष की भाषा। व्याकरण-दुष्ट भाषा को कभी नागर भाषा नहीं कहा जा सकता, और न ऐसा कोई नगर हो सकता है, जिसने इस तरह के दोष का ठेका लिया हो।

१९वीं-२०वीं शताब्दी के संधि काल मे हिन्दी को नागरी कहा जाता था। इसी के कारण काशी की संस्था ने अपना नाम "हिन्दी प्रचारिणी सभा" न रख "नागरी प्रचारिणी सभा" रखा। वाजपेयी जी इस तरह हिन्दी-नागरी का नागर प्राकृत से संबंध जोड़ कर सभी समस्याओं को हल कर देना चाहते है, पर यह इतना सरल नहीं है, क्योंकि भाषाओं का विकास इतना सरल नहीं होता।

पाणिनि ई. पू. ४ शताब्दी (नन्दकाल) में हुए थे। उन्होंने जिस समय अपने महान व्याकरण को लिखा उसमे कम से कम दो शताब्दी पहले ही संस्कृत बोलचाल की भाषा नही रह गयी थी। भिन्न-भिन्न जनपदों में अलग-अलग बोलिया प्रचलित थीं, जिन्हे आसानी के लिए हम "पाली" नाम दे सकते हैं। पाली वस्तुतः भाषा का नाम नही था, बल्कि बुद्ध के श्रीमुख से निकली पालियों (पंक्तियो) के लिए यह नाम दिया गया था। आज भी कहते है—गोसाईं जी की "पाती", इसी तरह उस समय "भगवान की पाली" कहा जाता था। "भगवान की पाली" की भाषा का नाम मागधी था, यह भी हमें पाली ग्रन्थों से मालूम होता है। पूर्वी भारत में मिले अशोक के शिलालेख तथा आगे पैदा होने वाली मागधी प्राकृत इस बात को भी साफ बतलाते हैं कि जो 'पाली' हमे त्रिपिटक और उसकी अट्ठकथाओं में मिलती है, उसमें मागधी के अपने कुछ विशेष उच्चारणों का बिल्कुल अभाव है। अशोक की मागधी और प्राकृत मागधी दोनों मे 'न' का बायकाट और उसकी जगह 'ण' का प्रयोग होता था। त्रिपिटक की पाली मे यह बात उल्टी है, अर्थात 'ण' का बायकाट और 'न' का सर्वत्र प्रयोग। साथ ही 'र' की जगह 'ल' (राजा-लाजा) भी मागधी में देखा जाता है, जिसका पाली में पता नहीं है। प्रसंगवश हम यह भी कह देना चाहते है कि कौरवी में 'ण' का प्रयोग (करणा, खाणा, पीणा) बहुत देखा जाता है, पर हिन्दी में उसका सर्वथा अभाव है। श्रद्धेय वाजपेयी जी कह सकते हैं कि यह भी इसका प्रमाण है कि हिन्दी का कौरवी से कोई संबंध नही है। हरेक भाषा की विशेषता उसकी उच्चारण प्रक्रिया (Phonology) और सुबंत-तिङन्त-ढांचा (Morphology) है। भाषाओं का विकास इन्ही दोनों मे परिवर्तन और सरलीकरण-साधारणीकरण द्वारा होता है। पाली अपने उच्चारण में मागधी नही है, लेकिन सुबंत-तिङन्त के ढांचे में अशोक या खारवेल के लेख पाली से बहुत कम भेद रखते है। जो भेद हैं, वे दो-तीन शताब्दियों तथा व्यक्ति और स्थान के परिवर्तन से हैं।

पाणिनि जिस समय अपने व्याकरण को लिख रहे थे, उस समय लोगों की बोलचाल की भाषाए मागधी और उसकी भगिनी पाली भाषाएं थी। जिस सस्कृत का वह व्याकरण बना रहे थे, चाहे उसे वह अपने ग्रन्थ में "भाषा" कहते भी हों, पर वह लोक-भाषा कदापि नही थी। लंका मे रहते समय स्थानीय भाषा से अपरिचित होने के कारण मैं संस्कृत का सहारा लेता था। कितने ही भिक्षु ऐसे थे, जो सस्कृत नहीं जानते थे; पर पाली पर अधिकार रखते थे। सस्कृत और पाली के मुहावरो में कुछ अन्तर होता ही है। मैं उसकी अवहेलना करते हुए सिर्फ उच्चारण और व्याकरण के आवश्यक परिवर्तनों के साथ पाली बोलता था। वे लोग हंस देते थे—"आप तो संस्कृत के ढंग से बोलते हैं।"

पाणिनि के समय के सस्कृत बोलने वाले लोग भी कितने ही ऐसे ही रहे होंगे। इसी भापा को पाणिनि-भापा कहते हैं। पाणिनि-व्याकरण किसी एक जनपद में बोली जाने वाली भापा का व्याकरण नही है, चाहे वह कृत्रिम ही "भाषा" (मातृभाषा) हो। यह वैयाकरणों में प्रख्यात इस श्लोक से भी सिद्ध होता है :

प्रागुदंचं विभजते हंसः क्षीरोदके यथा।
विदुषां शब्दसिद्धयर्थं सा नः पातु शरावती॥

शरावती (सरकंडों वाली) नदी शायद आधुनिक घग्गर है। यही उत्तरी भारत को उदीची और प्राची दो भागों में विभक्त करती थी। दोनों की भापाओं मे वैयाकरण कितना ही अन्तर पाते थे। उदीची या उत्तरापथ आजकल का पजाब है और प्राची पूर्व के देश, जहां के रहने वाले आज भी पुरबिया कहे जाते हैं। आज भी वही घग्गर कौरवी (हिन्दी) और पंजाबी की सीमा है। पाणिनि काल में सारे उत्तरी भारत की एक बोली नही थी, बल्कि अलग-अलग जनपदों की अलग-अलग भापाएं थी। इन्ही से ही ईस्वी सन् के आरम्भ में "पाली"-काल में उत्तरी भारत १६ जनपदों में वंटा हुआ था, जिनकी अपनी-अपनी बोलियां (पाली भापाएं) रही होंगी, जिनका नाम (१) अंगिका, (२) मागधी, (३) काशिका, (४) कोसली, (५) वृजिका, (६) मल्लिका, (७) चेदिका, (८) वात्सी, (९) कौरवी, (१०) पाचाली, (११) मात्सी, (१२) शौरसेनी, (१३) आश्मकी, (१४) आवन्ती, (१५) गान्धारी, और (१६) काम्बोजी था।

ईसा-पूर्व की ६ शताब्दियों मे ये बोलिया जिन जनपदो में बोली, जाती थी, उनमें आजकल निम्न बोलियां बोली जाती हैं :

प्राचीन बोली	जनपद नाम	आधुनिक बोली	आधुनिक भू-भाग
१. अंगिका	अग	छिका-छिकी मैथिली	मुंगेर-भागलपुर-सहरसा के जिले (बिहार)।
२. मागधी	मगध	मगही	पटना-गया जिले।
३. काशिका	काशी	पश्चिमी भोजपुरी	बनारस-आजमगढ-गोरखपुर के जिले, जौनपुर, मिर्जापुर जिलों के अंश।
४. कोसली	कोसल	अवधी	सारा अवध, अधिकांश इलाहाबाद कमिश्नरी, जौनपुर-मिर्जापुर के भाग, छत्तीसगढ।
५. वृजिका	वृजि-विदेह	मैथिली	दरभंगा पूरा और मुजफ्फरपुर जिला अंशतः।

६. मल्लिका	मल्ल	पूर्वी	भोजपुरी, देवरिया, बलिया, गाजीपुर, शाहाबाद, सारन, चम्पारन के जिले।
७. चेदिका	चेदी	बघेली-बुंदेली	बघेलखंड-बुंदेलखंड, छत्तीसगढ़ी छोड़ मध्यप्रदेश और मालवी छोड़ बाकी बोली वाले मध्य भारत के जिले।
८. वात्सी	वत्स	दक्षिणी अवधी	इलाहाबाद, जौनपुर आदि की बोली।
९. कौरवी	कुरु	कौरवी (हिन्दी)	मेरठ, मुजफ्फरनगर, सहारनपुर आदि।
१०. पांचाली	पंचाल (उ.द.)	कनौजी, रुहेलखंडी	रुहेलखंड, फर्रुखाबाद-मैनपुरी।
११. मात्सी	मत्स्य	जयपुरी	जयपुर आदि।
१२. शौरसेनी	शूरसेन	व्रज-भाषा	आगरा-मथुरा-भरतपुर आदि।
१३. आश्मकी	अश्मक	नीमाडी (मालवी)	नीमाड आदि।
१४. आवन्ती	अवन्ती	मालवी	मालवा (मध्य भारत)।
१५. गान्धारी	गन्धार	लंहदा (पंजाबी)	रावलपिंडी, डेराइस्माइल खां आदि।
१६. काम्बोजी	कम्बोज	काफिरी	काफिरस्तान आदि।

इसके देखने से मालूम होगा कि कुछ पुरानी जनपदी बोलियों में कुछ दूसरी मिल कर अब एक हो गयी हैं, जैसे वात्सी और कौसली की प्रतिनिधि अब एक ही अवधी भाषा है, मल्लिका और काशिका आज की भोजपुरी है। इनमें कुछ अवान्तर-भेद तो हैं ही, पर वे एकता का प्रत्याख्यान नहीं करते।

सोलह जनपदों के काल (ईसा-पूर्व ६ठी सदी) में जिस तरह उत्तरी भारत के भिन्न-भिन्न भागों में भिन्न-भिन्न बोलियां बोली जाती थीं, जिन्हें हमने सुगमता के लिए "पाली" संज्ञा दी, उसी तरह ईसा की प्रथम ५ सदियों में प्राकृत बोलियां बोली जाती थीं, जिनको जनपदी पालियों की उत्तराधिकारी के तौर पर १६ होना चाहिए था—यदि कुछ को पड़ोसिनों ने निगल नहीं लिया, या जनपद घट-बढ नहीं गये। वररुचि के प्राकृतप्रकाश में महाराष्ट्री, शौरसेनी, मागधी और पैशाची चार ही प्राकृतों का विवरण आने से यह नहीं समझना चाहिए कि उस समय चार ही प्राकृत भाषाएं थीं। वररुचि प्राकृत-काल के एक प्रसिद्ध पंडित थे। नाट्यशास्त्र के रचयिता भरत मुनि की भी

मातृभाषा प्राकृत थी। उन्होंने समकालीन प्राकृत भाषाओं और विभाषाओं के निम्न नाम दिये हैं :

· सात (प्राकृत) भाषाएं : (१) मागधी, (२) अवन्तिका, (३) प्राची, (४) सौरसेनी, (५) अर्ध-मागधी, (६) वाह्लीका, (७) दाक्षिणात्या।

छः (प्राकृत) विभाषाएं : (१) शावरी, (२) आभीरी, (३) चांडाली, (४) शकारी, (५) द्राविड़ी और, (६) ओढजा।

१६ जनपदों की १६ पालियों के स्थानों पर बैठाने से मालूम होगा कि कुछ के स्थान नहीं भरते, जैसे :

पालियां	प्राकृतें	आधुनिक भाषाएं
१. अंगिका	मागधी	छिका-छिकी मैथिली
२. मागधी	"	मगही
३. काशिका		पश्चिमी भोजपुरी
४. कोसली	अर्ध-मागधी (?)	अवधी
५. वृजिका		भोजपुरी, मैथिली
६. मल्लिका		भोजपुरी
७. चेदिका		बघेली
८. वात्सी		अवधी (दक्षिणी)
९. कौरवी	प्राची	कौरवी (हिन्दी)
१०. पाचाली		रुहेली और कनौजी (व्रज)
११. मात्सी		जयपुरी
१२. शौरसेनी	शौरसेनी	व्रज-भाषा
१३. आश्मकी		नीमाडी-मालवी
१४. आवन्ती	अवन्तिजा	मालवी
१५. गान्धारी		लंहडा
१६. काम्बोजी	पैशाची (?)	काफिरी

वररुचि की महाराष्ट्री का यहां पता नहीं है, न भरत मुनि की वाह्लीका और न दाक्षिणात्या ही यहां आयी। विभाषाओं में आभीर और चांडाल दूसरों के साथ रहने वाली जातियों की भाषा होने से वह बहुत थोड़ा फर्क रखती होंगी, जैसा कि मुसहर और दूसरी जातियों की बोलियों में आज भी देखा जाता है और जिसका कारण उनकी अपनी स्वतंत्र भाषा के लुप्त हो जाने पर भी पूरी तौर से सांस्कृतिक समागम और संमिश्रण का न होना है। शकार या शक प्राकृत-काल के आरम्भ होते ही भारत में आये थे। उनका ही एक कबीला आभीर (शक-आभीर) ईसा की दूसरी शताब्दी में अवश्य अपनी भाषा मूल-

स्थानीय प्राकृत को अपनाने लगा होगा। शबर लोगों की भाषा विभाषा नहीं बल्कि आज के मुडारी, उडावी, सन्थाली जैसी अल्प विकसित होते हुए भी स्वतंत्र भाषा रही होगी। भरत ने भाषा में दाक्षिणात्या और विभाषा में द्राविडी को गिना है। द्राविड़ भाषा प्राकृत-काल (१ली-५वीं ईसवी सदी) में भी एक साहित्यिक भाषा थी, इसलिए उसे विभाषा में सम्मिलित करना शायद अ-परिचय के कारण हो। प्राकृत-कालीन ओडिया का आज की ओडिया से क्या संबंध था, यह निश्चित रूप से कहना मुश्किल है। आर्यों की भाषा—या भाषाओं—ने उत्तर भारत में किरात और द्रविड़ भाषाओ को हटा स्वयं आर्य-भिन्नों की भाषा बनने में सफलता पाकर दक्षिण की ओर दिग्विजय आरम्भ की, जहां उस समय द्रविड़ भाषाएं बोली जाती थी। प्राकृत-काल में उत्तर और दक्षिण की भाषाओ का जो संघर्ष हो रहा था, उसी का प्रमाण शातवाहनों, धान्यकटक के इक्ष्वाकुओं और काची के पल्लवों के प्राकृत अभिलेख हैं। जब प्राकृत का स्थान अभिलेखों में संस्कृत ने लिया, तो मानो उत्तरी भाषा ने स्थानीय भाषा के सामने हथियार रख दिये—यह समय ईसा की चौथी सदी था। पर इस संघर्ष में उत्तरी भाषाएं बिल्कुल निष्फल नही रहीं। उन्होंने ओडिया और मराठी के रूप में अपने को स्थापित कर वहां उच्चारण और कुछ उधार शब्दो के सिवाय द्रविड़-भाषा का चिह्न नहीं रहने दिया।

भरत ने दाक्षिणात्य और द्राविड़ को अलग-अलग भाषा गिना है। दाक्षिणात्य से आधुनिक मराठी की परदादी महाराष्ट्री प्राकृत रही होगी, इसमें सन्देह का एक बड़ा कारण है। भूतकाल के लिए आजकल उसमें मागधी-वंशी भाषाओं में प्रयुक्त होने वाले 'आल', 'आला' प्रत्ययों का प्रयोग बतलाता है कि मराठी का उद्गम शायद मागधी प्राकृत हो। वैसे दक्खिनी हिन्दी की तरह उत्तर की ओर प्राकृतो से उसने अपनी भाषा को समृद्ध किया हो, तो इसमें आश्चर्य नहीं। १४वी-१५वीं सदी में उत्तर से दक्षिण में मुसलमान विजेता पहुंचे। दखिनी के रूप में उन्होने यद्यपि उसी हिन्दी का प्रचार किया, जो कौरवी का ही एक रूप थी, पर चूंकि उनकी जमात में केवल दिल्ली और मेरठ की भाषा बोलने वाले ही नही, बल्कि पंजाबी और पांचाल (रुहेली, कनौजी बोलने वाले) भी थे, इसलिए उनके भी कितने ही शब्द उसमें सम्मिलित हो गये। यही बात उसी भूमि मे हजार वर्ष पहले भी दुहरायी गयी होगी; हा इतने अन्तर के साथ : उत्तरी भाषा के पहले अभियान ने स्थानीय भाषा को हटा दिया, जब कि मुस्लिम-अभियान ने तेलगू या मराठी के समुद्र में हैदराबाद-औरंगाबाद जैसे शहरों के मुसलमानों और बहुत थोड़े से दूसरे लोगों के रूप में कुछ क्षुद्र द्वीप कायम करने में सफलता पायी।

प्राकृत-काल मे आर्य जनपदों और भाषाओं का पहले से अधिक विस्तार

हुआ, पर ये सभी प्राकृतें इतना महत्व नही रखती थीं कि तत्कालीन लेखक उनका उल्लेख करते। वृजिका, मल्लिका, काशिका, पांचाली, कौरवी जैसी कितनी ही प्राकृत भापाएं कोई विशेप महत्व नही रखती होंगी जिसके ही कारण प्राकृतों में उनका उल्लेख नही मिलता। आगे तो दूसरे वंश की भापाओं ने उनको स्थान-भ्रष्ट कर स्वय उनका स्थान लिया, इसीलिए हम काशिका-मल्लिका-वृजिका-आगिका और वंग तथा पूर्व के क्षेत्र में भी मागधी प्राकृत की पुत्रियों को विराजमान होते देखते हैं। इससे मालूम होता है कि प्राकृत-काल मे वहां मागधी ने प्रधानता प्राप्त कर ली थी।

अपभ्रंश छठी से बारहवी सदी के अन्त तक प्रचलित थी, जिसमें पहली और अन्तिम दो शताब्दियों को संधि काल मान लेने पर सातवी से ग्यारहवी तक की पांच शताब्दियां उसकी अपनी होती है। प्राकृत-काल से भी अधिक भापाएं इस समय रही होंगी। इन्हें ही नानादेशीय अपभ्रंश कहते हैं। हिन्दी और दूसरी हिन्दी-आर्य भारतीय भापाएं इन्हीं अपभ्रंशों से निकली है, इस तथ्य को अभी हाल में हमारे यहां माना जाने लगा है। संस्कृत के पंडित तो अपभ्रंश की स्थिति के जानने में अभी भी दिग्भ्रष्ट दीखते हैं। पतंजलि (ईसा-पूर्व द्वितीय सदी) के महाभाष्य में अपभ्रंश का नाम आ जाने से कितने ही उसे प्राकृत से भी पहले ले जाने में संकोच नही करते। अपभ्रंश प्राकृत का ही पर्याय है, इसे मानने वाले बहुतेरे मिलेंगे। पतंजलि ने अपभ्रंश शब्द का प्रयोग किसी रूढ़ नाम के लिए न कर संस्कृत से भ्रष्ट उच्चारण रखने वाले सामान्य अर्थ में किया है, जैसा कि उनके दिये गौका, गावी, गोणी, गोपोतलिका आदि बहुत से अपभ्रंश उदाहरणों से मालूम होता है। काल विशेप या युग विशेष के भापा-वंश के अर्थ में इसका प्रयोग अपभ्रंश-काल ही में हुआ, जैसा कि हेमानुशासन, प्राकृत चंद्रिका, कुवलयमाला आदि में देखा जाता है। इन ग्रन्थो में निम्न अपभ्रंशों का उल्लेख मिलता है :

अपभ्रंश	माता प्राकृत	दादी "पाली"	आधुनिक सन्तान
१. अन्तर्वेदी	...	वात्सी	द. अवधी
२. आभीरी	आभीरी (विभापा)	...	खानदेशी मराठी
३. आवन्ती	...	आवन्ती	मालवी
४. ओड्री	... (मागधी)	...	ओडिया
५. कीरी	(पैशाची या किराती)	...	कश्मीरी या किराती
६. कैकेयी	...	गान्धारी	लहंडा
७. कोसली	(अर्धमागधी)	कोसली	अवधी
८. गुर्जरी	...	...	गुजराती

९. गोल्ली (गौडी) मागधी		मागधी	बंगला
१०. टक्की	...	...	मेवाड़ी (?)
११. नागरी	...	...	पश्चिमी मालवी (?)
१२. पांचाली	...	पाचाली	कनौजी-रुहेली (ब्रज)
१३. पाश्चात्या	...	(वाहीकी)	पूर्वी पंजाबी
१४. बर्बरी	...	...	...
१५. ब्राचडी	...	...	...
१६. मध्यदेशीया	...	...	कौरवी (?)
१७. मरुदेशी	...	...	मारवाड़ी
१८. महाराष्ट्री	अर्धमागधी (?)	...	मराठी
१९. मागधी	मागधी	मागधी	मगही
२०. मालवी	...	आवन्ती	मालवी
२१. लाटी	...	...	गुजराती
२२. वैदर्भी	...	...	बरारी (मराठी)
२६. सिन्धी	...	...	सिन्धी
२४. सेहली	(शौरसेनी)	...	सिंहली

प्राकृत-काल की भाषाओं की अपेक्षा अपभ्रंशों की सूची अवश्य बड़ी मालूम होती है, पर उसे पूरी हम तभी कह सकते हैं, जब कि आज की सभी बोलियों और भाषाओं की माताओं का उसमें समावेश होता, जो ऐसा नहीं जाता, यह आधुनिक भाषाओं और बोलियों की निम्न सूची से मालूम होगा :

वर्तमान बोली	माता अपभ्रंश	सहोदर भाषाएं
१. अवधी	कोसली	छत्तीसगढ़ी
२. असमिया	मागधी	बंगला, ओड़िया, मैथिली, मगही, भोजपुरी
३. ओड़िया	"	"
४. कनौजी (ब्रज)	पंचाली (द.)	ब्रज, रुहेली
५. कश्मीरी	कीरी	दरद
६. कांगडी	पाश्चात्या	पूर्वी पंजाबी, चमेआली (चंबा)
७. कुमाऊनी (मध्य-पहाड़ी)	मरुदेशी	मारवाड़ी, नेपाली, गढ़वाली, कुलुई, चमेआली
८. कुलुई (प. प.)	"	"
९. कोंकणी (म.)	महाराष्ट्री	मराठी
१०. कौरवी (पूर्वी)	... (कौरवी)	[illegible] कौरवी ([illegible])
११. कौरवी (प.)	... (...)	"

१२. गढ़वाली	मरुदेशीया	मारवाड़ी आदि
१३. गुजराती	गुर्जरी	मारवाड़ी आदि
१४. चंबियाली	मरुदेशीया	„
१५. डोंगरी	(पाश्चात्या)	पंजाबी आदि
१६. दरदी	...	कश्मीरी
१७. नैपाली (गोरखाली)	मरुदेशीया	कुमाऊनी, गढ़वाली, मारवाड़ी आदि
१८. पंजाबी (प. लहंडा)	...	पंजाबी (पूर्वी) आदि
१९. „ (पूर्वी)	पाश्चात्या	„
२०. पश्तो	...	...
२१. बंगला	मागधी	असमिया आदि
२२. बघेली	...	बघेलखंडी
२३. बुंदेली	...	बुंदेलखंडी
२४. ब्रज	...	कनौजी आदि
२५ भोजपुरी	मागधी	मगही, मैथिली आदि
२६. मगही	„	भोजपुरी आदि
२७. मराठी	महाराष्ट्री	कोंकणी
२८. मालवी	आवन्ती	मेवाड़ी
२९. मुलतानी	...(सिन्धी)	सिन्धी
३०. रुहेली(उ. पंचाली)	पांचाली	कनौजी ब्रज
३१. सिन्धी	सिन्धी	मुलतानी, कच्छी
३२. सिंहली	सैंहली	

"अपभ्रंश से हिन्दी की उत्पत्ति का होना ही युक्ति-सगत है"—यह कह देने भर से वाजपेयी जी छुट्टी नही ले सकते। उन्हे बतलाना होगा कि हिन्दी किस अपभ्रंश से निकली है, और साथ ही यह भी बतलाना होगा कि वह कौन-से प्रदेश की किस बोली का परिष्कृत रूप है। यह तो साफ है कि उसे भोजपुरी, अवधी या दूसरी पूर्वी भाषाओं का परिष्कृत रूप नही कह सकते, न ब्रज, बुंदेली, मालवी से उसका संबंध जोड़ा जा सकता है। 'का' के लिए 'रा', 'गा' के लिए 'सा' और 'है' के लिए 'छै' कहने वाली मारवाडी से भी हिन्दी का अपनत्व स्थापित नही किया जा सकता। पंजाबी से 'गा' और 'है' का संबंध जरूर है, पर तो भी पंजाबी से उसमें काफी अन्तर है। हमे यह मानने में उज्र नही है कि पूर्वी-पंजाबी कई मौलिक विशेषताओं मे हिन्दी के बहुत

नजदीक है; पर सवाल है, वह कौन सी बोलचाल की भाषा है, जो हिन्दी की अपनी बोली हो सकती है ? कौरवी छोड़ आप किसी भी भारतीय भाषा को नहीं पेश कर सकते, जिसमें हमारी हिन्दी समा जाती हो। हम कौरवी के नमूने के तौर पर मेरठ जिले में कौरवों-पांडवों की राजधानी हस्तिनापुर से १५ मील पर अवस्थित वन्नी गाव की निरक्षर ८० वर्ष की बुढ़िया रामनमाई के मुंह से सुनी एक कहानी रखते हैं :

"एक काणा गीद्दड़ ता (था)। उनने हाड़ कट्ठे (इकट्ठे) कर लिये जंगल से। हड्डियों का चौतरा बणाय के लीप लिया अर (और) काणों मे बांद लिये फटे से लीतड़े। वो वैठ गया चौतरे पैं। दरियाव पास में ता (था)। गाय आयी पाणी पीणे, गीदड़ ने कया :

गाय री गाय, तुम पाणी मत पीजो।
जब पीजो जब तुम इतना बोल लीजो।
चांदी का तेरा चौतरा सोन्ने लिप्पा होय।
कान्नों तेरे मूंदरा, कोई राज्जा बेट्ठा होय।

बेचारी गाय कै के पाणी पी के चली गयी। फेर भैंस्सें आयीं, उनसे वी गीद्दड़ ने नो कया (कहा)।

...भैंस्सें वी कै के पाणी पी गयीं। फेर आयी बकरी। बकरी को बी उनने नोई कया। बकरी बी कै के पाणी पी के चली गयी। फेर आयी चिड़िया। चिड़िया कू बी गीद्दड़ ने नोई कया। चिड़िया वी कै के पाणी पी के चली गयी। फेर आये कौवे। कोओं ने बी नोई कैं दिया।

पिच्छे आई कट्टो (गिलहरी)। कट्टो कू बी उनने नोई कया। कट्टो ने कया—भई, मैं तो पाणी पीऊंगी पैले, जब कऊंगी। मेरा तो हलक सुक्का जाय।

उनने पाणी पीके कया—मैं तो नीम पैं चढ़के कऊंगी। नीम पैं चढ़के कट्टो ने कया—कऊं काणे गीददड़, कऊं ?

हाड्डों का तेरा चौतरा गूल्हड (गुह) लिप्पा होय।
कान्नों तेरे लीतड़े, काणा गीद्दड बेट्ठा होय।

गीदड़ लकड़ी ले के चला मारने कट्टो कू। वो कआं हात आवैंती ? गीद्दड ने गुस्से में चौतरा भी ढा गेरा, हाड़ बी बमेर दिये, अपने काणों के लीतड़े बी फाड़ गेरे।"

(आदि हिन्दी की कहानियां, पृष्ठ ३८-३९)

कोई भी पाठक इस कहानी को पढ़ कर समझ सकता है कि यह हमारी साहित्यिक हिन्दी का ही अपरिष्कृत रूप है। परिष्कार करके उसे ज्यादा सुंदर

बना दिया गया या नहीं, यह दूसरी बात है। महाप्राण अक्षरों की जगह अल्पप्राण—जैसे 'था' की जगह 'ता' या 'भी' की जगह 'बी'—कौरवी से हिन्दी को भिन्न नहीं सिद्ध करता। हो सकता है, उस समय महाप्राण (था) बोला जाता हो, जब कि विदेशी तुर्क शासकों ने अपनी राजधानी और आस-पास की साधारण बोलचाल की भाषा को द्वितीय भाषा के तौर पर अपनाया। णकार-बहुल कौरवी को नकार-बहुल बनाना उनके लिए इसलिए भी आवश्यक था, क्योंकि तुर्की और पारसी दोनों भाषाओं के बोलने वाले ट-वर्ग नहीं बोल सकते, और न उनकी अरबी वर्णमाला में उसके लिए अक्षर थे। ट-वर्ग के लिए अरबी लिपि में विशेष संकेत तब निश्चित किये गये, जब विजेताओं का नशा उतर गया और वह समझने लगे कि हम भी हिन्दी हैं। "आवै है", "जावै है" के प्रयोग कभी उर्दू में धड़ल्ले से होते थे। पीछे उर्दू साहित्यकारों ने उसे त्याज्य (मतरूक) कर दिया। "गीद्दड़", "रोट्टी", "गड्डी" के द्वित्व पर नाक-भौं नहीं सिकोड़ना चाहिए, क्योंकि वह प्राकृत-काल से अपभ्रंश काल तक चला आता कौरवी का दाय-भाग है।

कौरवी का कोई पुराना साहित्य नहीं, न आज के कुरु देश के लोगों ने हिन्दी साहित्य के लिए कुछ किया, इसलिए उनके साथ हिन्दी का संबंध जोड़ना अच्छा नहीं, यह कह कर भी हम कौरवी को छोड़ नहीं सकते। हिन्दी ने पहले-पहल मुसलमान लेखकों द्वारा ही साहित्यिक रूप लिया, और वह समय कबीर से पीछे का नहीं था। तुगलक-वंश की कमजोरियों से फायदा उठा कर जौनपुर में एक अलग बादशाहत कायम हुई, जिसने हमें अवधी के जायसी और कुतुबन जैसे कवि दिये। उसी समय दखिन में बहमनी रियासत कायम हुई, जिसके साथ उत्तर की हिन्दी दखिन मे जाकर "दक्खिनी" कहलायी और वहां सूर और तुलसी के समय में ही वजही और मुहम्मद कुतुब शाह जैसे कवि पैदा हुए। उर्दू हिन्दी की ही एक शैली है, सामान्य तौर से हिन्दी कही जाने वाली भाषा की नहीं, बल्कि उसी खड़ी हिन्दी या कौरवी की शैली, जिसमें व्याकरण को कायम रखते विदेशी उधार शब्दों को अधिकाधिक भरने की कोशिश की गयी। "दक्खिनी" को छोड़ देने पर भी यह याद रखने की बात है कि कुरु देश वही देश है, जहां और उसके यमल भाई पंचाल देश मे विश्वामित्र, वशिष्ठ, भरद्वाज जैसे आदिम ऋषियों ने ऋग्वेद की ऋचाएं बनायीं। कुरु-पांचाल के लोगों ने उपनिषद् तैयार किये। बुद्ध ने भी अपने सब से गम्भीर सूत्रों (महानिदान, महासतिपट्ठान) का यहीं उपदेश किया, जिसका कारण बतलाते हुए त्रिपिटक के भाष्यकार (अट्ठकथाकार) कहते हैं—"कुरु देशवासी...देश के अनुकूल ऋतु युक्त होने से हमेशा स्वस्थ-शरीर स्वस्थ-चित्त होते हैं...(इसीलिए) भगवान ने कुरु-देशवासी

बना दिया गया या नहीं, यह दूसरी बात है। महाप्राण प्राण—जैसे 'था' की जगह 'ता' या 'भी' की जगह '
को भिन्न नहीं सिद्ध करता। हो सकता है, उस समय
जाता हो, जब कि विदेशी तुर्क शासकों ने अपनी राज
साधारण बोलचाल की भाषा को द्वितीय भाषा के तौ
बहुल कौरवी को नकार-बहुल बनाना उनके लिए इ
क्योंकि तुर्की और पारसी दोनों भाषाओं के बोलने वा
और न उनकी अरबी वर्णमाला में उसके लिए अक्षर
लिपि में विशेष संकेत तब निश्चित किये गये, जब
गया और वह समझने लगे कि हम भी हिन्दी है।
प्रयोग कभी उर्दू में धड़ल्ले से होते थे। पीछे उर्दू
(मतरूक) कर दिया। "गीदड़", "रोट्टी", "गड्डी"
सिकोड़ना चाहिए, क्योंकि वह प्राकृत-काल से अप
कौरवी का दाय-भाग है।

कौरवी का कोई पुराना साहित्य नहीं, न आज
हिन्दी साहित्य के लिए कुछ किया, इसलिए उनके
अच्छा नहीं, यह कह कर भी हम कौरवी को छ
पहले-पहल मुसलमान लेखकों द्वारा ही साहित्यिक
कबीर से पीछे का नहीं था। तुगलक वंश की कम
जौनपुर में एक अलग बादशाहत कायम हुई, जिसने
कुतुबन जैसे कवि दिये। उसी समय दखिन में वह
जिसके साथ उत्तर की हिन्दी दखिन में जाकर "द
सूर और तुलसी के समय में ही वजही और मुहम्मद
हुए। उर्दू हिन्दी की ही एक शैली है, सामान्य तौर से
भाषा की नहीं, बल्कि उसी खड़ी हिन्दी या कौरवी की
कायम रखते विदेशी उधार शब्दों को अधिकाधिक भरने
"दक्खिनी" को छोड़ देने पर भी यह याद रखने की बात है।
है, जहां और उसके यमल भाई पंचाल देश में विश्वामित्र, व
आदिम ऋषियों ने ऋग्वेद की ऋचाएं बनायी। कुरु-पाचाल के
तैयार किये। बुद्ध ने भी अपने सब से गम्भीर सूत्रों (महानिदान,
का यहीं उपदेश किया, जिसका कारण बतलाते हुए त्रिपिटक
(अट्ठकथाकार) कहते हैं—"कुरु देशवासी...देश के अनुकूल ऋतु
हमेशा स्वस्थ-शरीर स्वस्थ-चित्त होते हैं...(इसीलिए) भगवान ने

स्वतंत्र भाषाएं हैं, जैसे बंगला और गुजराती। पूर्णिया और मारवाड़ी को कौन एक (हिन्दी) भाषा की बोली कह सकता है? मारवाड़ी गुजराती से अत्यन्त निकट का संबंध रखती है, और पूर्णिया (मैथिली) भाषा बंगला से। मारवाड़ी और मैथिली वाले यदि अपनी-अपनी भाषा मे बोलें, तो वह एक-दूसरे की बात समझ नही पायेंगे। हिन्दी की सहोदरा पंजाबी जरूर है, पर उसे हिन्दी की बोली नहीं कहा जा सकता।

किसी भाषा को केवल इसीलिए बोली नहीं कहा जा सकता कि उसका साहित्य लिपिबद्ध नहीं हुआ। दूसरी भाषा के हावी होने से भी ऐसा हो सकता है, जैसे कुछ शताब्दियो पूर्व लातीन के कारण अंग्रेजी आदि भाषाओं के साथ हुआ था। किसी भाषा का साहित्य अभी तक लिपिबद्ध नही हुआ, तो इसका यह अर्थ हर्गिज नही कि उसने हमेशा के लिए अपने इस हक को खो दिया। भोजपुरी का साहित्य अभी तक अलिखित था, पर अब उसके लोकगीतो के कितने ही सुन्दर सग्रह प्रकाशित हो चुके हैं। उसमें भोजपुरी जैसी अच्छी पत्रिका निकलती है, नये कविता-संग्रह निकल रहे हैं, और बिहार सरकार ने उसे प्रारम्भिक शिक्षा का माध्यम स्वीकार कर लिया है। इसी तरह छत्तीसगढी भी छत्तीसगढ़ी के द्वारा निराकार से साकार रूप लेने की कोशिश कर रही है। हिन्दी क्षेत्र में और भी भाषाएं आगे बढ़ रही है और लिपिबद्ध न होने के कारण जिनके अस्तित्व को नही स्वीकार किया जाता था, वह लिपिबद्ध हो अपने अस्तित्व को स्वीकार कराने जा रही हैं।

हिन्दी के लोक-साहित्य से हमें उन सब भाषाओं के लोक-साहित्य को लेना चाहिए, जिनके शिष्ट साहित्य को हम हिन्दी का साहित्य मानते हैं, जैसे विद्यापति की मैथिली, तुलसीदास की अवधी, सूरदास की व्रज और पृथ्वीराज की मरुवाणी (मारवाड़ी) का लोक-साहित्य। यही नही, बल्कि अलिपिबद्ध और अब तेजी से लिपिबद्ध होती ऊपर गिनायी हिन्दी क्षेत्र की अन्य भाषाओं के लोक-साहित्य को भी उसमे गिनना होगा।

पर यह तो निश्चय ही है कि हमारी साहित्यिक गद्य-पद्य की हिन्दी की लोक-भाषा उपरोक्त सभी नहीं हैं। वह मूलतः कुरु जनपद की भाषा है और अपने लोक-भाषा के रूप मे अब भी वहा बोली जाती है। इसे कोई अपना नाम नही दिया गया है। कुछ लोग इसे मेरठी नाम देना चाहते है, पर वह केवल मेरठ जिले की भाषा नही है। वह केवल मेरठ कमिश्नरी की भी भाषा नही है, क्योंकि मेरठ कमिश्नरी में बुलन्दशहर जिले के आधे दक्षिणी भाग में वह नही, व्रज भाषा बोली जाती है। उत्तर के देहरादून जिले के पहाड़ी भाग (जौनसार) में भी वह नहीं बोली जाती। वह मेरठ कमिश्नरी की सीमा से बाहर भी बोली जाती है। रुहेल-खण्ड के बिजनौर जिले के अधिक भाग की वह भाषा है। इसी तरह

हिन्दी लोक-साहित्य

हिन्दी लोक-साहित्य से मतलब यदि हिन्दी क्षेत्र के लोक-साहित्य से है, तो इसमें जैसलमेर से पूर्णिया और केदार-बदरी से छत्तीसगढ़ तक का लोक-साहित्य आ जायेगा। भाषाओं की दृष्टि से इसमें मैथिली, मगही, भोजपुरी, अवधी, बघेली-बुन्देली, छत्तीसगढ़ी, मालवी, मारवाड़ी, ब्रज, हरियाणी-कौरवी, पहाड़ी एवं बिहार तथा मध्यप्रदेश की जन-जातीय भाषाएं सम्मिलित हैं। कुछ में तो कई और भाषाएं सम्मिलित हैं, जैसे पहाड़ी में कुमाऊनी, गढवाली, शिमला-पहाड़ी, लहासुई, बिलासपुरी, कागडी, कुलुई, चंबियाली, पंगवाली। यही ऊपरी लाहुल और ऊपरी कनौर (चिनी तहसील) और स्पिती की तिब्बती, एवं निम्न कनौर और निम्न लाहुल की किरात भाषाएं बोली जाती हैं। इस प्रकार पहाड़ी मे हिन्दी, किरात और तिब्बती वंश की एक दर्जन भाषाएं और उनके लोक-साहित्य मौजूद हैं। छोटानागपुर और मध्य प्रदेश की जन-जातियों की संथाल, उड़ांव, मुण्डा, आदि अनेक भाषाएं हैं, जिनमें (उड़ांव जैसी) कुछ द्रविड़ वंश से संबंध रखती हैं, और कुछ आस्ट्रिक वंश से।

हिन्दी-वंश से भिन्न भाषाओं को हम इस लेख में नहीं लाना चाहते। तब भी ऊपर की सूची से मालूम होगा कि हिन्दी-वंशी लोक-भाषाओं की संख्या काफी अधिक है। हमारे अहिन्दी-भाषी भाई समझते हैं कि उत्तर में एक ही हिन्दी भाषा है, बाकी उसी की छोटी-छोटी बोलियां हैं। पर मैथिली, अवधी, ब्रज और मारवाड़ी को कौन बोली कह सकता है, जिनका काव्य-साहित्य हमारी हिन्दी से कहीं अधिक पुराना और गुण तथा परिमाण में अधिक नहीं तो कम समृद्ध नहीं है। वस्तुतः वह बोलिया नहीं साहित्यिक भाषाएं हैं, जिन्होंने विद्यापति, तुलसी, सूर और पृथ्वीराज जैसे महान कवि दिये।

किसी साहित्यिक भाषा की बोली वही भाषा हो सकती है, जिसका व्याकरण बहुत मामूली भेद के साथ एक-सा हो, और जिसके समझने मे एक-दूसरे से परिचय रखने वालों को दिक्कत न हो। हिन्दी की बोली वस्तुतः कौरवी (मेरठ, मुजफ्फर-नगर, सहारनपुर के पूरे जिलों तथा पास के गंगा-जमुना पार के भी कितने ही भू-भाग की बोली) और हरियाणी (रोहतक आदि अंबाला कमिश्नरी के जिलों की भाषा) हैं। ये दोनों बोलिया असल में एक का ही जरा-सा बदले हुए रूप हैं। भेद 'है' और 'सं' का है। बाकी भाषाएं हिन्दी की बोलिया नहीं बल्कि उसी तरह

स्वतंत्र भाषाएं हैं, जैसे बंगला और गुजराती। पूर्णिया और मारवाड़ी को कौन एक (हिन्दी) भाषा की बोली कह सकता है? मारवाड़ी गुजराती से अत्यन्त निकट का संबंध रखती है, और पूर्णिया (मैथिली) भाषा बंगला से। मारवाड़ी और मैथिली वाले यदि अपनी-अपनी भाषा में बोलें, तो वह एक-दूसरे की बात समझ नही पायेंगे। हिन्दी की सहोदरा पंजाबी जरूर है, पर उसे हिन्दी की बोली नही कहा जा सकता।

किसी भाषा को केवल इसीलिए बोली नही कहा जा सकता कि उसका साहित्य लिपिबद्ध नहीं हुआ। दूसरी भाषा के हावी होने से भी ऐसा हो सकता है, जैसे कुछ शताब्दियों पूर्व लातीन के कारण अंग्रेजी आदि भाषाओं के साथ हुआ था। किसी भाषा का साहित्य अभी तक लिपिबद्ध नही हुआ, तो इसका यह अर्थ हर्गिज नही कि उसने हमेशा के लिए अपने इस हक को खो दिया। भोजपुरी का साहित्य अभी तक अलिखित था, पर अब उसके लोकगीतों के कितने ही सुन्दर संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं। उसमे भोजपुरी जैसी अच्छी पत्रिका निकलती है, नये कविता-संग्रह निकल रहे हैं, और बिहार सरकार ने उसे प्रारम्भिक शिक्षा का माध्यम स्वीकार कर लिया है। इसी तरह छत्तीसगढी भी छत्तीसगढ़ी के द्वारा निराकार से साकार रूप लेने की कोशिश कर रही है। हिन्दी क्षेत्र मे और भी भाषाएं आगे बढ़ रही है और लिपिबद्ध न होने के कारण जिनके अस्तित्व को नही स्वीकार किया जाता था, वह लिपिबद्ध हो अपने अस्तित्व को स्वीकार कराने जा रही है।

हिन्दी के लोक-साहित्य से हमें उन सब भाषाओं के लोक-साहित्य को लेना चाहिए, जिनके शिष्ट साहित्य को हम हिन्दी का साहित्य मानते हैं, जैसे विद्यापति की मैथिली, तुलसीदास की अवधी, सूरदास की ब्रज और पृथ्वीराज की मरुवाणी (मारवाड़ी) का लोक-साहित्य। यही नही, बल्कि अलिपिबद्ध और अब तेजी से लिपिबद्ध होती ऊपर गिनायी हिन्दी क्षेत्र की अन्य भाषाओं के लोक-साहित्य को भी उसमें गिनना होगा।

पर यह तो निश्चय ही है कि हमारी साहित्यिक गद्य-पद्य की हिन्दी की लोक-भाषा उपरोक्त सभी नही हैं। वह मूलतः कुरु जनपद की भाषा है और अपने लोक-भाषा के रूप मे अब भी वहां बोली जाती है। इसे कोई अपना नाम नही दिया गया है। कुछ लोग इसे मेरठी नाम देना चाहते है, पर वह केवल मेरठ जिले की भाषा नहीं है। वह केवल मेरठ कमिश्नरी की भी भाषा नहीं है, क्योकि मेरठ कमिश्नरी मे बुलन्दशहर जिले के आधे दक्षिणी भाग में वह नही, ब्रज भाषा बोली जाती है। उत्तर के देहरादून जिले के पहाडी भाग (जौनसार) में भी वह नही बोली जाती। वह मेरठ कमिश्नरी की सीमा से बाहर भी बोली जाती है। रुहेल-खण्ड के बिजनौर जिले के अधिक भाग की वह भाषा है। इसी तरह

करनाल ही नहीं रोहतक के कितने ही भाग, दिल्ली राज्य को लेते हुए अम्बाला कमिश्नरी के बहुत से भागों में बोली जाती है। पंजाबी और मारवाड़ी की सीमा पर के अम्बाला कमिश्नरी के भू-भाग में हरियाणी बोली जाती है। परन्तु इस भाषा की कौरवी से इतनी अधिक समानता है कि उसे हम इसका ही एक रूप मान सकते हैं। फर्क 'स' और 'ह' का है। कौरवी वाले 'है' और 'हूं' बोलते हैं, जिसे हरियाणी वाले 'से' और 'सूं'। गुजराती में भी काठियावाड़ी और पूर्वी गुजराती में 'स' और 'ह' का अन्तर देखा जाता है। काठियावाड़ी 'सारो' (अच्छा) को 'हारो' कहते हैं और दूसरे 'सारो'। सिर्फ इतने उच्चारण के लिए जिस तरह हम काठियावाड़ी को गुजराती से भिन्न नहीं मानते, उसी तरह हरियाणी को हिन्दी की लोक-भाषा कौरवी से अलग नहीं मान सकते। पुराना कुरु-देश यद्यपि गंगा और जमुना के बीच सूरसेन-पंचाल (आधुनिक ब्रज) और हिमालय से घिरा हुआ था, गंगा के पूर्व के किसी भाग को कुरु-देश का अंग नहीं माना जाता था। वहां उत्तर-पचाल (आधुनिक रुहेलखण्ड) था। इसी तरह जमुना के पश्चिम अम्बाला कमिश्नरी के कौरवी-भाषी प्रदेश को बस्ती कम और जंगलों के अधिक होने से कुरु-जागल कहा जाता था। पुरानी सीमा के कुछ बाहर बोले जाने पर भी हम अम्बाला-मेरठ कमिश्नरियों के प्रायः सारे भू-भाग की लोक-भाषा को कौरवी कह सकते है, जो कि साहित्यिक हिन्दी की लोक-भाषा है।

किसी भी साहित्यिक भाषा का, उसकी लोक-भाषा और लोक-साहित्य से संबंध कायम रहना अत्यावश्यक है। किसी पाश्चात्य विद्वान ने कहा है कि अपनी लोक-भाषा से संबंध टूट जाने पर साहित्यिक भाषा अवरुद्ध जल वाली नदी की परित्यक्त धार-सी हो जाती है। हजारों मुहावरे और भाषा की सजीव शैली लोक-भाषा में उद्भूत होती है। हिन्दी, जो हमारी किताबो मे लिखी जाती है और जिसको भारत के आधे लोग अपनी भाषा कहते हैं, उसका अपनी लोक-भाषा कौरवी से संबध स्थापित होना अत्यावश्यक है।

यहा हम हिन्दी और कौरवी लोक-भाषा के गठन और व्याकरण के बारे मे कहने नहीं जा रहे हैं। हिन्दी के लोक-साहित्य से वस्तुतः कौरवी के लोक-साहित्य को ही लेना है, इसे बतलाने के लिए हमने उपरोक्त पंक्तियां लिखीं। यदि मैथिली, अवधी, ब्रज और मारवाड़ी के साहित्य को हिन्दी का साहित्य मानने के ख्याल से हम लोक-भाषा की व्याख्या करें, तो ऊपर निर्दिष्ट डेढ़ दर्जन भाषाओं के लोक-साहित्य को हिन्दी का मानना पड़ेगा। पर मैथिली, भोजपुरी, मारवाड़ी लोकगीतों के जो बड़े-बड़े सग्रह प्रकाशित हो चुके हैं, उन्हें हिन्दी नहीं उन्हीं भाषाओं के लोकगीत का नाम दिया गया है। जब दूसरी सभी भाषाओं के लोक-साहित्य को हम हिन्दी लोक-साहित्य नहीं कह रहे हैं, तो वह

कौन-सा लोक-साहित्य है, जिसे हिन्दी का लोक-साहित्य कहा जा सकता है? यह स्पष्ट है कि वह वही हो सकता है, जिसकी भाषा का साहित्यिक रूप हमारी हिन्दी है। भाषातत्व विशारदों ने (और आगे दिये जाने वाले उद्धरणों ने भी) यही सिद्ध किया है कि हिन्दी की लोक-भाषा कौरवी है। हिन्दी की लोक-भाषा कौरवी के हरियाणी और तद् भिन्न दो रूप तो हम अभी बतला चुके हैं। हर भाषा में कुछ कोसों के बाद उच्चारण मे कुछ अन्तर पड़ता जाता है। वह कौरवी में भी है। पर वह इतना बड़ा अन्तर नही है, जितना भोजपुरी के काशिका (पश्चिमी) और मल्लिका (पूर्वी) रूपों मे देखा जाता है।

लोक-साहित्य के गद्य और पद्य यह दो मुख्य भेद हैं। गद्य में कहानिया, कहावतें और पहेलिया आती हैं, और पद्य मे लोकगीत और पंवाड़े हैं।

लोकगीत अपेक्षाकृत छोटे होते हैं। इनमें से कुछ विवाह आदि सस्कारो के वक्त में गाये जाते है, कुछ पूजा-त्यौहारों में, कुछ प्रेम-परिहास आदि के संबंध मे होते हैं। इन्ही मे बच्चों के गीत और लोरियों को भी हम ले सकते हैं।

इनसे भिन्न ऋतु सबंधी गीत भी होते है, जैसे फागुन के गीत, सावन के गीत (झूलना) और बारहों महीनों से संबंध रखने वाले बारहमासा के गीत जिनमें प्रेम, शृंगार और करुणा की प्रधानता देखी जाती है।

पंवाड़े पद्यमय होते हैं, जिन्हें लोकगीत इसलिए नही कहा जा सकता कि गीत से छोटे-छोटे मुक्तक गीत अभिप्रेत हैं, वह पद्य का पर्यायवाची नही है। पंवाड़े ऐसे पद्य हैं जो कई-कई दिन और कुछ घंटो ही गाने पर कई-कई महीनों में समाप्त होते है। आल्हा एक ऐसा ही पंवाड़ा है, जो हिन्दी के सारे विशाल क्षेत्र में अपनी-अपनी भाषाओं में गाया जाता है। कौरवी और हरियाणी में भी वह उसी तरह गाया जाता है, जैसे बुन्देली, अवधी और भोजपुरी में। इसे हम कौरवी लोक-साहित्य की केवल अपनी चीज नही मान सकते हैं। कोई पंवाड़ा, यदि वह जन-मन को अत्यधिक आकृष्ट करने वाला है, इस तरह की सीमा में बंध नही सकता। उदाहरणार्थ ढोला-मारू और निहालदे के पवाड़ों को ले लीजिए। ढोला-मारू का सबसे पुराना लिपिबद्ध रूप हमें मारवाड़ी मे मिलता है, लेकिन पंजाबी तथा कौरवी वाले भी उसे अपना पंवाड़ा मानते हैं। निहालदे कौरवी (हरियाणी और मेरठी दोनों रूपों में) और मारवाड़ी दोनों का सुपरिचित पंवाड़ा है। पता लगाने पर वह पड़ोसी दूसरी भाषाओं में भी मिल सकता है।

इसमें शक नही कि राजस्थानी (मारवाड़ी) का "निहालदे" बहुत ही सरस और समृद्ध काव्य है। निहालदे का प्रेमी नरसुलतान (मुसलमान नही, राजपूत राजकुमार) आल्हा-ऊदल की तरह बावन किलो का विजेता है। राजस्थान के संस्करण में वह इतना विस्तृत है कि एक रात की बैठकी मे एक दुर्ग-विजय को

गा लेना भी मुश्किल है। वहां इसे बरसात की रातों में बैठ कर गाया और सुना जाता है। हाल तक चली आती राजस्थानी सामन्तशाही ने जनतंत्र के प्रसार और जनाधिकार के विस्तार को रोकने में चाहे जितने पाप किये हों, किन्तु लोक-कला और लोक-साहित्य की जितनी रक्षा वहां हुई है, उतनी भारत में अन्यत्र नही। यही कारण है कि वहां के संस्करण में हरेक पंवाड़ा बहुत विशाल और निखरा हुआ मिलता है। गोगा जी का पवाड़ा कांगड़ा और चम्बा के पहाड़ों में भी गाया जाता है, लेकिन वह राजस्थानी भाषा मे ही पूरा और सुन्दर रूप में मिलता है।

गद्य

कौरवी लोकवार्ता के संग्रह में जितनी उदासीनता दिखलायी गयी, उतनी हिन्दी क्षेत्र की बहुत कम ही भाषाओं के लिए किया गया है, हालांकि साहित्यिक हिन्दी की समृद्धि के ख्याल से उसे सबसे पहले करना चाहिए था। "देर आयद दुरुस्त आयद"—खैर देर ही से सही, अब इस तरफ ध्यान गया है और कौरवी-भाषी तरुणों-तरुणियों ने इस ओर काफी तत्परता दिखानी शुरु की है। वह समय दूर नही है, जब कौरवी लोकवार्ता—गद्य और पद्य—का विशाल संग्रह सुलभ होगा। जैसा कि हमने ऊपर कहा, लोक-साहित्यिक गद्य के कहानियों, कहावतों और पहेलियों के तीन रूप हैं। इनमें से कुछ के उदाहरण हम यहा देते हैं।

कहानियां

बड़ी कहानियों को उद्धृत करना समव नही है। पर जो कहानिया यहां दी जाती हैं, उनसे पता लगेगा कि अपने लोक-भाषीय रूप में हिन्दी कितनी चमत्कारपूर्ण है :

> गौरा का ब्याह[1] : एक राज्जा की एक बेट्टी ती, नाम ता उसका गौरा। नाई-बाम्मण सब देस-देस होय आये, कोई बर ना मिलै। बाप ने कया—बेट्टी घर ढूडू तो बर नई हात आता, बर ढूडू तो घर नहीं हात आत्ता, इससे तो अच्छा ता कि तू होतेई मर जाती।
>
> बेट्टी ने कया—मेरे ब्या का अंदेसा ना करो तुम। मैं तो अपणा बर आपी ढुंडूगी।

[1] आदि हिन्दी की कहानियां और गीतें, राहुल सांकृत्यायन, पृ १४.

बेट्टी ने नाई-बाम्मण कू बुला के कै दिया अक—मेरा वर ढुंडि आओ, उसकू देखके घिणा मत जइयो, उसीसे मेरा रिस्ता कर अइयो।

नाई-बाम्मण गये। उनने वर कू कया अक—तुम्हारी सगाई आवै है।

वर सिब्जी माराज ते। उनने कया अक—मेरी सगाई कौण करै ?

—राजा की बेट्टी करै।

लोग-बाग्गो ने सिब्जी माराज से कया अक—इने खाणा तो खुलाओ।

उनने कया—हम पै क्या रक्खा है खाणेकू ?

फेर सिब्जा ने भुड्डों के रेत रख दिये पत्तलों पै, अर गंगाजल उनके धोरे रहैताई। उनने गंगाजल बी गेर दिया। रेत का तो बूरा हो गया अर गंगाजल का घी बण गया।

नाई-बाम्मण ने खा-पी लिया।

लोग-बाग्गों ने कया अक—इने दछणा भी चइए।

सिब्जी ने कया—"हम पै क्या रक्खा है ?" फेर उनने कंकड़ों से दोन्नों की झोल्ली भर दी—"लो दछणा भई।"

दोन्नों चल पड़े। बाम्मण ने झोल्ली से लिकाल के कंकड़ बखेर दिये, नाई ने रख लिये। रस्ते में जाके देक्खा, तो उनकी असरफी-मोअर बण गयी।

बाम्मण ने कया—भई, हमैं तो खबर ती नई के मोअर-असरफी हो जाग्गी, हमने तो गेर दी।

दोन्नों ने जाक्के राजा की बेट्टी से कया—हम सिक्का चढ़ाइ आये, ब्या बी ठराइ आये।

बरात क्या चली, बस अपणे सिब्जी नादिया-बैल पै चढ़के चल दिये। लोग-बाग 'बरात आवेगी' समझ के जाजम-ओजम बिछा रये ते। सिब्जी आयके बैठ गये। लोग-बाग्गों ने कया—या कआं बैट्ठो हो लेके नांदिया बैल कू, यां तो राज्जा की बेट्टी की बरात आय रई है।

सिब्जी ने कया—हमी घरात्ती, हमी बरात्ती, हमी गौराजी के वर।

लोग-बाग्गों ने राज्जा पै संदेसा भेजा अक—यां तो सिब्जी माराज बैट्ठे हैं, बाज्जा-गाज्जा कुछ नई है।

राज्जा ने कया—गौरा बेट्टी, तू होत्तेई मर जात्ती तो अच्छा होता, तन्ने मेरी बड़ी हंसाई करी।

लौडिया ने सिब्जी पै संदेसा भेज्जा अक—जैसे अन्तर-ग्यानी हो, वैमेई हो जाओ। बाप्पू की हंसाई हो रई है मेरे।

सिब्जी ने एक बीन बजाई, घोड़े-टम-टम-बग्गी सब आय गये। दूसरी

बीन बजाई, बग अंग्रेजी बाज्जा बी आ गया।

राज्जा ने नाई कू भेज्जा अक—बरात जिमाणे कू बुलाय लाओ।

उन्ने जायके सिब्जी कू कया।

सिब्जी ने कया—"दो आदमी कू जिमाई लाओ, जब मेरी बरात जायेगी", अर उन्ने सुक-सिनिच्चर दोन्नों भेज दिये। उनोने खुलाना करा। टोकरे भर-भर के दिया, जब बी वे भुक्केई रये।

राज्जा ने कया—इने कोट्ठे मे बाड़ दो, कआं तक खुलाओगे टोकरों से।

सुक-सिनिच्चर सवा-सवा हाथ धरती बी चाट गये, अर कोट्ठे में कुछ बी न छोड्डा। फेर राज्जा आया गौरा पै—बेट्टी, मैं क्या खुलाऊं इने, ये तो सब चाट गये।

बेट्टी ने सदेसा भेज्जा सिब्जी पै—जी, क्यों मेरी हंसाई करो हो, जैसे अन्तर-य्यानी हो वैसे क्यूं नही होत्ते?

सिब्जी ने राख की चुटकी भर के पुटलिया बान्द के धर दी भन्डारे में। भन्डार वैसाई भर गया—वो तो अपणे लच्छण दिखावै ते।

सब बरात जीम लिया, अर भर-भर थाल पड़ोसनों कू बाटि आये।

गौरा का ब्याव हो गया। सिब्जी माराज ले चले गौरा कू।

सिब्जी माराज ने कया—ह्यां मेरी मावसी है, मैं तो मावसी से मिल के जाऊंगा। वो अपनी मावसी पै गये, गौरा कू बी ले गये सात में। वां जाक्के ठैरे।

मावसी की बऊ तागगा खोल रई ती—आठ हिस्सा, आठ कंगी, आठ कटोरी, आठ सुरमेदानी, आठ सलाई, आठ चूड़ियों के जोड़े, आठ अङ्गी, आठ पूरी—सब चीज आट्ठे आठ ती।

बऊ ने गौरा से कया—बिब्बी जी, तुम सिब्जी माराज से कैके करवा लो, तुम बी ये सब चीज मंगा लो, बोत महात्तम है इनका।

गौरा ने जाक्के कया सिब्जी माराज पै—हम बी करेंगे यो उद्यापण।

सिब्जी ने कया—हम पै क्या है? कोट्ठे के खिवाले मे बड़के देक्खो, जो कुछ मिले तो कर लो। वे तो, सब चीजों के देने वाले ते। उनने सब चीज पैदा कर दी।

गौरा ने बी जैसी मावसी की बऊ कर रई ती, वैसा कर दिया उद्यापण।

गौरा जी सोहाग बांट रई ती। सब ले आयी, कोई पिटारी भर लायी, कोई बोइया भर ले आयी, कोई गाड्डी भर लायी, ऐसे सब जात की भर

लायी। वणिये-बाम्मण की रै गयी, आयी पीच्छे से। गौरा ने कया—तुमें बी तो चइये सोहाग।

उनोंने कया—हमें भी चइये, देद्दो हमे बी सोहाग।

गौरा के पास बस उंगली में रया ता बचा, बाकी सब बाट दिया ता। गौरा ने उंगली तरास के छिंटा दे दिया सबकू। किसी कू थोड़ा लगा, किसी कू वौत लग गया, किसी कू तनक छिंटाई लगा। इसीलिये वणिये-बाम्मण में कोई थोड़ा भुगते हैं सोआग, कोई ज्यादा।

फेर गौरा सस्सू के गयी, ले गये सिब्जी माराज।

सिब्जी माराज की बहन आई आरता करने। उसका सोन्ने का थाल मट्टी का हो गया अर उल्टा बी हो गया। नणद ने कया—यो तो वड़ी कुलच्छणी आई बऊ, जो सोन्ने का थाल मट्टी का हो गया।

सिब्जी ने कया—"सुलच्छणी जब मुझे, कुलच्छणी जब मुझे" अर वो कलास परवत पै गौरा कू लेके चढ गये।

पार्वती और शिव के विवाह की कथा संस्कृत और भारत की दूसरी भाषाओं में दोहराई गयी है। पर कौरवी "गौरा का ब्याह" की कथा में एक तरह की विचित्र ताजगी मालूम होती है।

काणा गीदड़[1] : एक काणा गीदड़ ता। उनने हाड़ कट्ठे कर लिये जंगल से। हड्डियों का चौतरा बणाय के लीप लिया अर काणों से वाद लिये फूटे से लीतड़े। वो बैंठ गया चौतरे पै। दरियाव पास में ता। गाय आई पाणी पीणे। गीदड़ ने कया—गाय री गाय, तुम पाणी मत पीजो। जब पीजो जब तुम इतना बोल लीजो :

"चान्दी का तेरा चौतरा, सोन्ने लिप्पा होय,
कान्नो तेरे मूदरा, कोई राज्जा बैंट्ठा होय।"

बेचारी गाय कै के पाणी पीके चली गयी।

फेर भैस्सें आयी। उनसे वो गीदड़ ने नोई कया—

"चान्दी का तेरा चौतरा, सोन्ने लिप्पा होय,
कान्नों तेरे मूदरा, कोई राज्जा बैंट्ठा होय।"

भैंसे वी कै के पाणी पी गयी।

फेर आयी बकरी। बकरी कू बी उनने नोई कया। बकरी बी कै के पाणी पीके चली गयीं।

[1] आदि हिन्दी की कहानियां और गीतें, पृ. ३८.

फेर आयी चिड़िया। चिड़िया कू बी गीदड़ ने नोई कया। चिड़िया बी कै के पाणी पीके चली गयी।

फेर आये कौवे। कौवों ने बी नोई कै दिया।

पिच्छे से आयी कट्टो (गिलहरी)। कट्टो कू बी उनने नोई कया।

कट्टो ने कया—भई, मैं तो पाणी पीऊंगी पैले, जब कउंगी। मेरा तो हलक सुक्का जाय।

उनने पाणी पी के कया—"मैं तो नीम पै चढ़के कऊंगी।" नीम पै चढ़के कट्टो ने कया : कऊं काणे गीदड़ ? कऊं ?—

"हाड्डों का तेरा चौतरा, गुब्बड़ लिप्पा होय,
कान्नो तेरे लीतड़े, काणा गीदड़ बैट्ठा होय।"

गीदड़ लकड़ी लेके चला मारने कट्टो कू। वो क्या हात आवै ती ? गीदड़ ने गुस्से में चौतरा बी ढा गेरा, हाड़ बी बखेर दिये, अपणे कान्नो के लीतड़े बी फाड़ गेरे।

पद्य

पंवाड़े : पंवाड़े कौरवी में बहुत हैं। "निहालदे" के बारे में हम बतला चुके हैं।

इसके लोकवार्तीय रूप भी मिलते हैं और अर्ध-लोकवार्तीय भी। अर्ध-लोकवार्तीय रूप वे हैं, जो कि आधुनिक काल में नागरिक सभ्यता से प्रभावित होकर चौबोले और नौटंकी के रूप में लिखे गये हैं।

मुझे रामनमाई के मुंह से "निहालदे" की सिर्फ दो पंक्तियां सुनने को मिली थीं[1]—

लिखि-लिखि परवाणा भेजे, सती हो रई कंवर निहालदे।
भैया भने बरात पे आए गिरके बाल जलण ना पाये॥

८० वर्ष की वृद्धा होने के कारण रामनमाई के लिए बहुत-सी बातों का याद न रहना, या याद को अस्त-व्यस्त रूप में रखना, स्वाभाविक था। स्वर्गीय श्रीमती होमवती देवी (मेरठ) ने इसकी कुछ और कड़ियों को बतलाया था, जिनमें "भैया भने बरात पै आये" की जगह "स्वामी भने बरात पै आये" कहा गया था। तदनुसार उस वक्त निहालदे के पास पहुंचा, जब कि वह चिता पर

[1] वही, पृ. १३३.

बैठ चुकी थी और उसमें आग भी लग चुकी थी। राजस्थानी संस्करणों से पता चलता है कि निहालदे ने 'स्वामी' नहीं 'भैया' ही कहा था। वह अर्ध-मूर्छित अवस्था में समझती थी, मेरा भाई ही आ गया है। होमवती जी की दी हुई पंक्तियां निम्न हैं[1] :

बांदी ऐसा खत लिखवाइयो, मेरे मरम की सुनके आवें,
रोय-रोय कह रई कंवर निहालदे...।
सखि, यो आया सावन महीना, सब-सब पाट रंगावें—सब-सब
डोर उटावें, बैठी झुरवै कंवर निहालदे...।
राजा भले बखत पै आये, सिर के केस जलन नहीं पाये,
सत्ती हो रही कंवर निहालदे...।

सखि, यो आया भादों महिना, बिजली चमक डरावें, झुक रई
रैन अंधेरी, बैठी झुरवै कंवर निहालदे...।
बांदी ऐसा खत लिखवइयो मेरे मरम की सुनके आवें,
रोय-रोय कह रई कंवर निहालदे...।
सखि, यो आया क्वार महीना, सब-सब चौक पुरावें—सब-सब
तिलक संजोवें, बैठी-झुरवै कंवर निहालदे...।
सखि, यो आया कातक महीना, सब-सब दिवले बलावें,
बैठी झुरवै कंवर निहालदे...।
सखि, यो आया अघन महीना, सब-सब हार गुंदावें, सब-सब
मांग भरावें, बैठी झुरवै कंवर निहालदे...।
सखि, यो आया पूस महिना, सब-सब सौड़ भरावें—सब-सब
पलंग बिछावें, बैठी झुरवै कंवर निहालदे...।
सखि, यो आया माह महिना, सब-सब गींठी तपावें, तत्ते
जल से न्हावें, बैठी झुरवै कंवर निहालदे...।
सखि, यो आया फागण महिना, सब-सब रंग घुलावें—सब-सब
फगुवा चढ़ावें, बैठी झुरवै कंवर निहालदे...।
सखि, यो आया चैत महिना, सब-सब खिड़की झकावें, सब-सब
चांदनी लखावें, बैठी झुरवै कंवर निहालदे...।
सखि, यो आया बैसाख महिना, सब-सब बिजन डुलावें,
बैठी झुरवै कंवर निहालदे...।
सखि, यो आया जेठ महिना, बन की कली मुरझावें, खस के

[1] वही, भूमिका, पृ. १०-११.

फेर आयी चिड़िया। चिड़िया कू वी गीदड़ ने नोई कया। चिड़िया वी कैं के पाणी पीके चली गयी।

फेर आये कौवे। कौवों ने वी नोई कैं दिया।

पिच्छे से आयी कट्टो (गिलहरी)। कट्टो कू वी उनने नोई कया।

कट्टो ने कया—भई, मैं तो पाणी पीऊंगी पैले, जब कउंगी। मेरा तो हलक सुक्का जाय।

उनने पाणी पी के कया—"मैं तो नीम पै चढ़के कऊंगी।" नीम पै चढ़के कट्टो ने कया : ककं काणे गीदड़ ? कऊं ?—

> "हाड्डों का तेरा चौतरा, गुब्बड़ लिप्पा होय,
> कान्नो तेरे लीतड़े, काणा गीदड़ बैंठा होय।"

गीदड़ लकड़ी लेके चला मारने कट्टो कू। वो क्या हात आवै ती ? गीदड़ ने गुस्से में चौतरा वी ढा गेरा, हाड़ वी बखेर दिये, अपणे कान्नों के लीतड़े वो फाड़ गेरे।

पद्य

पंवाड़े : पंवाड़े कौरवी में बहुत हैं। "निहालदे" के बारे में हम बतला चुके हैं।

इसके लोकवार्तीय रूप भी मिलते है ओर अर्ध-लोकवार्तीय भी। अर्ध-लोकवार्तीय रूप वे हैं, जो कि आधुनिक काल में नागरिक सभ्यता से प्रभावित होकर चौबोले और नौटंकी के रूप में लिखे गये हैं।

मुझे रामनमाई के मुंह से "निहालदे" की सिर्फ दो पंक्तियां सुनने को मिली थीं[1]—

> लिखि-लिखि परवाणा भेजे, सत्ती हो रई कंवर निहालदे।
> भैया भले बखत पे आए सिरके बाल जलण ना पाये॥

८० वर्ष की वृद्धा होने के कारण रामनमाई के लिए बहुत-सी बातों का याद न रहना, या याद को अस्त-व्यस्त रूप में रखना, स्वाभाविक था। स्वर्गीय श्रीमती होमवती देवी (मेरठ) ने इसकी कुछ और कड़ियों को बतलाया था, जिनमे "भैया भले बखत पै आये" की जगह "स्वामी भले बखत पै आये" कहा गया था। नरमुलतान उस वक्त निहालदे के पास पहुचा, जब कि वह चिता पर

[1] वही, पृ. १३३.

बैठ चुकी थी और उसमें आग भी लग चुकी थी। राजस्थानी संस्करणों से पता चलता है कि निहालदे ने 'स्वामी' नहीं 'भैया' ही कहा था। वह अर्ध-मूर्छित अवस्था में समझती थी, मेरा भाई ही आ गया है। होमवती जी की दी हुई पंक्तियां निम्न हैं[1] :

बांदी ऐसा खत लिखवाइयो, मेरे मरम की सुनके आवें,
रोय-रोय कह रई कंवर निहालदे...।
सखि, यो आया सावन महीना, सब-सब पाट रंगावें—सब-सब
डोर उटावें, बैठी झुरवें कंवर निहालदे...।
राजा भले बखत पै आये, सिर के केस जलन नहीं पाये,
सत्ती हो रही कंवर निहालदे...।

सखि, यो आया भादों महिना, बिजली चमक डरावें, झुक रई
रैन अंधेरी, बैठी झुरवें कंवर निहालदे...।
बांदी ऐसा खत लिखवइयो मेरे मरम की सुनके आवें,
रोय-रोय कह रई कंवर निहालदे...।
सखि, यो आया क्वार महीना, सब-सब चौक पुरावें—सब-सब
तिलक संजोवें, बैठी-झुरवें कंवर निहालदे...।
सखि, यो आया कातक महीना, सब-सब दिवले बलावें,
बैठी झुरवें कंवर निहालदे...।
सखि, यो आया अघन महीना, सब-सब हार गुंदावें, सब-सब
मांग भरावें, बैठी झुरवें कंवर निहालदे...।
सखि, यो आया पूस महिना, सब-सब सौड़ भरावें—सब-सब
पलंग बिछावें, बैठी झुरवें कंवर निहालदे...।
सखि, यो आया माह महिना, सब-सब गींठी तपावें, तत्ते
जल से नहावें, बैठी झुरवें कंवर निहालदे...।
सखि, यो आया फागण महिना, सब-सब रंग घुलावें—सब-सब
फगुवा चढ़ावें, बैठी झुरवें कंवर निहालदे...।
सखि, यो आया चैत महिना, सब-सब खिड़की भकावें, सब-सब
चांदनी लखावें, बैठी झुरवें कंवर निहालदे...।
सखि, यो आया बैसाख महिना, सब-सब बिजन डुलावें,
बैठी झुरवें कंवर निहालदे...।
सखि, यो आया जेठ महिना, मन की कली मुरझावें, खस के

[1] वही, भूमिका, पृ. १०-११.

फेर आयी चिड़िया। चिड़िया कू वी गीदड़ ने नोई कया। चिड़िया बी कै के पाणी पीके चली गयी।

फेर आये कौवे। कौवों ने बी नोई कै दिया।

पिच्छे से आयी कट्टो (गिलहरी)। कट्टो कू बी उनने नोई कया।

कट्टो ने कया—भई, मैं तो पाणी पीऊंगी पैले, जब कऊंगी। मेरा तो हलक सुक्का जाय।

उनने पाणी पी के कया—"मैं तो नीम पै चढ़के कऊंगी।" नीम पै चढ़के कट्टो ने कया : कऊं काणे गीदड़ ? कऊं ?—

"हाड्डों का तेरा चौतरा, गुब्बड़ लिप्पा होय,
कान्नों तेरे लीतड़े, काणा गीदड़ बैट्ठा होय।"

गीदड़ लकड़ी लेके चला मारने कट्टो कू। वो क्या हात आवै तो ? गीदड़ ने गुस्से मे चौतरा बी ढा गेरा, हाड़ बी बखेर दिये, अपणे कान्नों के लीतड़े वी फाड़ गेरे।

पद्य

पंवाड़े : पंवाड़े कौरवी में बहुत हैं। "निहालदे" के बारे में हम बतला चुके हैं।

इसके लोकवार्तीय रूप भी मिलते हैं और अर्ध-लोकवार्तीय भी। अर्ध-लोकवार्तीय रूप वे हैं, जो कि आधुनिक काल मे नागरिक सभ्यता से प्रभावित होकर चौबोले और नौटंकी के रूप में लिखे गये हैं।

मुझे रामनमाई के मुंह से "निहालदे" की सिर्फ दो पंक्तियां सुनने को मिली थीं[1]—

लिखि-लिखि परवाणा भेजे, सत्ती हो रई कंवर निहालदे।
भैया भले बखत पे आए सिरके बाल जलण ना पाये॥

८० वर्ष की वृद्धा होने के कारण रामनमाई के लिए बहुत-सी बातों का याद न रहना, या याद को अस्त-व्यस्त रूप में रखना, स्वाभाविक था। स्वर्गीय श्रीमती होमवती देवी (मेरठ) ने इसकी कुछ और कड़ियों को बतलाया था, जिनमे "भैया भले बखत पै आये" की जगह "स्वामी भले बखत पै आये" कहा गया था। नरसुलतान उस वक्त निहालदे के पास पहुंचा, जब कि वह चिता पर

[1] वही, पृ. १३३.

बैठ चुकी थी और उसमें आग भी लग चुकी थी। राजस्थानी संस्करणों से पता चलता है कि निहालदे ने 'स्वामी' नहीं 'भैया' ही कहा था। वह अर्ध-मूर्छित अवस्था में समझती थी, मेरा भाई ही आ गया है। होमवती जी की दी हुई पंक्तियां निम्न हैं[1] :

बांदी ऐसा खत लिखवाइयो, मेरे मरम की सुनके आवें,
रोय-रोय कह रई कंवर निहालदे...।
सखि, यो आया सावन महीना, सब-सब माट रंगावें—सब-सब
डोर उटावें, बैठी झुरवें कंवर निहालदे...।
राजा भले बखत पै आये, सिर के केस जलन नहीं पाये,
सत्ती हो रही कंवर निहालदे...।

सखि, यो आया भादां महिना, बिजली चमक डरावें, झुक रई
रैन अंधेरी, बैठी झुरवें कंवर निहालदे...।
बांदी ऐसा खत लिखवइयो मेरे मरम की सुनके आवें,
रोय-रोय कह रई कंवर निहालदे...।
सखि, यो आया क्वार महीना, सब-सब चौक पुरावें—सब-सब
तिलक संजोवें, बैठी-झुरवें कंवर निहालदे...।
सखि, यो आया कातक महीना, सब-सब दिवले बलावें,
बैठी झुरवें कंवर निहालदे...।
सखि, यो आया अघन महीना, सब-सब हार गुंदावें, सब-सब
मांग भरावें, बैठी झुरवें कंवर निहालदे...।
सखि, यो आया पूस महिना, सब-सब सौड़ भरावें—सब-सब
पलंग बिछावें, बैठी झुरवें कंवर निहालदे...।
सखि, यो आया माह महिना, सब-सब गींठी तपावें, तत्ते
जल से नहावें, बैठी झुरवें कंवर निहालदे...।
सखि, यो आया फागण महिना, सब-सब रंग घुलावें—सब-सब
फगुवा चढ़ावें, बैठी झुरवें कंवर निहालदे...।
सखि, यो आया चैत महिना, सब-सब खिड़की झकावें, सब-सब
चांदनी सलावें, बैठी झुरवें कंवर निहालदे...।
सखि, यो आया बैसाख महिना, सब-सब बिजन डुलावें,
बैठी झुरवें कंवर निहालदे...।
सखि, यो आया जेठ महिना, बन की कली मुरझावें, खस के

[1] वही, भूमिका, पृ. १०-११.

बंगले छवावें, बैठी भुरवे कंवर निहालदे...।
सखि, यो आया साढ़ महिना, सब-सब तपन बुझावें, वन के
मोर चिंघाड़ें, बैठी भुरवें कंवर निहालदे...।
स्वामी मले बखत पे आए, सिर के केस जलन नहीं पाए,
सत्ती हो रई कंवर निहालदे...।

इस भाषा में साहित्यिक नागरिक भाषा का प्रभाव स्पष्ट है, तो भी लोक-साहित्य के गुणों का बिल्कुल अभाव नहीं है।

निहालदे और नरसुलतान की गाथा इतनी प्रिय है कि पिछली शताब्दी में नौटंकी और प्रेस से छपी पुस्तकों का जब प्रचार हुआ, तो उसके लिए कितने ही "शायरों" ने पुस्तकें लिखी। कलछिना (जिला मेरठ) निवासी चौधरी रामसिंह ने "निहालदे-नरसुलतान" के नाम से दस भागों में इस पंवाड़े को लिखा है। चौथे भाग के अन्त में उन्होंने निहालदे के अन्तिम समय का वर्णन निम्न प्रकार किया है[1] :

दोहा—ये री ऊदा आये नहीं, मेरे पति भरतार।
दिल धीरज धरता नहीं, खाके मरूं कटार॥

चमोला—खाके मरूं कटार बहन री, या दे सल रचवाई।
याद पिया की बसी है दिल में, रातों मरूं तबाई॥
खोटे-खोटे ख्वाब रोज के, देवें मुझे दिखाई।
दुरबल जीना हुआ मेरा, अब दूंगी देह जलाई॥

मु.—कागा बोला महल पे, लोना सगुन बिचार।
मक्खी लोटी चून में, आवें हैं भरतार॥

चमोला—आवें हैं भरतार तुम्हारे, कहूं धरम की बानी।
आज श्याम तक धीरज धरले, मतना तजो प्रानी॥

कौरवी के सुन्दर और लोकसम्मत पंवाड़े तो कितने ही पुराने कण्ठों में मौजूद हैं, जिनके नष्ट हो जाने का भी भय है। चौधरी रामसिंह की तरह की भाषा में कितने ही पंवाड़े पढ़ने या स्वांग खेलने के लिए लिखे भी गये है। "आल्हा खण्ड" स्वाग की चीज नहीं है, इसलिए उसकी बावनगढ़ की लड़ाई

[1] निहालदे नरसुलतान, खलीफा अब्दुल मजीद के शिष्य, चौधरी रामसिंह, कलछीने निवासी कृत, पृ. १५३.

डेढ़ हजार पृष्ठों में छपी मिलती है। स्वांग के पंवाड़े संगीतों, स्वांग की. पुस्तिकाओं के रूप मे छपे हैं, जैसे चम्पादे, चन्दा-सूरज, फूलाजाट, चांदकौर आदि।

लोकगीत : कौरवी में ऐसे कितने ही गीत हैं, जो हिन्दी क्षेत्र की दूसरी भाषाओं मे भी प्रसिद्ध हैं, जैसे "चन्द्रावल"। यह कौरवी का एक बहुत ही करुणापूर्ण गीत है, जो मारवाड़ी, बुंदेली ही नही अवधी में भी मिला है। किसी में यह अधिक पूर्ण है और किसी मे अपूर्ण है। रामनमाई का गाया गीत निम्न प्रकार है[1] :

अब रुत आई बाबा बीजगऐ की,
सास्सु बरजें—"बऊ री, पणिया मत जाईं,
डेरा पड़ा है मोगल के का, दे लेगा तमुओं के बीच।"
"सास्सु की बरजी ना रहूं, मै तो पणिया मरू' झकझोल,
क्या करैगा थारा मोगल के का, तमुओं में दे दूंगी आग।" इत्यादि।

हमारी दूसरी भाषाओं में चंद्रावली (चन्दा) के जो गीत गाये जाते है, वे सभी एक से एक सुन्दर हैं। सभी में चन्द्रावली के अतिमानुस साहस और करुण अन्त का हृदयद्रावक वर्णन है। राजस्थानी "चन्द्रावली" से मालूम होता है कि जिस मुगल ने चन्द्रावली को पकड़ा था, वह हाड़ा राव की फौज का एक अफसर था, जैसे[2]

सात सैयां के झूमखे, चंदा पाणी नै जाय।
आई फौज हाड़ा राव की, ज्यां में बुगल पठाण॥
तम्मू तणै डोरी तणै, तणगो सारो सामान।
फौज बैठी हाड़ा राव की, ज्यां में बुगल पठाण।

इसमें और कौरवी गीत में बहुत समानता है।

तम्बू बलै डोरी बलै, बलगो सारो समान।
बीच बलै चन्दा गोरड़ी, ज्यां का लांबा जो केस॥

और अन्त में कहा गया है—

मुगल देखतो रह गयो, होई चंदा की राख।
ये धोखा मन में रहा, क्यं मैं ल्यायो जी साथ।

[1] आदि हिन्दी की कहानियां और गीतें, पृ. ६१.
[2] शोधपत्रिका, उदयपुर, दिसम्बर-मार्च, १६५४-५५, पृ. ३५ (मनोहर शर्मा).

"लारी ए लूमण की बेलड़ी, फल लाग्यो ए ना फूल।
तोड़ी ही चाखी नहीं, घोला मनई-मनड़े रे मांय" ॥

बुन्देलखण्डी "चन्द्रावली"[1] में कौरवी की तरह "लम्बे-लम्बे केस" को अनेक बार दोहराया गया है[1]:

"खड़ी-खड़ी जलें चन्दरावली, जाके हैं लम्बे-लम्बे केस," इत्यादि।

अवधी में और कुछ दूसरे संस्करणों में भी सात भावी या सात बहनें चन्द्रावली से कहा गया है[2]:

सात बहिनि चंदा सिकिया जे चीरें,
सिकिया चिरें ए रे सदौली के घाट जी।

आइगे लस्करे मुगल कै, चन्दा परिवन्दिखान जी।

और अन्त में,

चिता बारि चन्दा जरि गयी, चन्दा तो होई गयी राख जी।
चन्दा के चिता अस घधकै, धूंवा से भरिगा भण्डार जी।
जरिगै मोगला कै दाढ़ी, ऊहौ होइगा तमाम जी।

लोकगीतों की अधिकांश कवयित्रियां स्त्रियां होती हैं। उनमें पुरुषों की स्वार्थान्धता और क्रूरता की छाप मिलती है। अपनी पत्नी के मुगल के हाथ में पड़ने पर चंद्रावली के पति को कोई दुःख नहीं होता, वह कहता है "लाऊं ऐसी दो चार।"

पुरुष की क्रूरता का परिचायक एक और गीत है[3] :

चूड़ा तो हाथी दांत का, चूड़ा तो मेरे मन बसा।
गली गली मनरा फिरे, अरी बीबी मनराकू लाओ बुलाय।
पल्ला पसार मनरा बैठ गया, "मनरा, कओ इस चूड़ले का मोल"
॥चूड़ा॥
"औरोंकू बीबी मेरी लाख टका, तुमकू पैराऊं बिना मोल" ॥
"हरी, जंगीरी ना पहरूं, हरे मोरे राजा जी के बाग।
काली जंगीरी मनरा मैं ना पहरूं, काले मोरे राजा जी के पठे।

[1] वही, पृ. ४३.
[2] हमारा ग्राम साहित्य, रामनरेश त्रिपाठी, पृ. १३७.
[3] आदि हिन्दी की कहानियां और गीतें, पृ. १०३.

लाल.जंगीरी मनरा में ना परू, लाल मोरे राजा जी का विडला।
चिट्टी जंगीरी मैं ना परू, चोटी मोरे राजाजी का वसतर।"

एक गीत मे तरुणी गौना (मुकलावा) जाने में देरी होने से विकल हो रही है[1]:

"मेरी काली चोट्टी एन को, घरी परानी हो।
जिब देक्खूं जिब रोय पड़ूं, मेरा कद मुकलावा हो।
मेरे संग की छोरियां, गोड्डों में लाल खिलावें।
जिब देक्खूं जिब रोय पड़ूं, मेरी सारी मन पं आवे।"

दूसरी तरुणी बिदेस में दूर ब्याह करने और ससुराल के झगड़े के बारे में कहती है:

"काहे को ब्याही बिदेस, रे लक्खी बाबल मेरे
हम तो रे बाबल तेरे खूंटे की गइया, जिधर बांधो बंध जायें, जिधर खोलो खुल जायें।
काहे को ब्याही बिदेस, भइयों के दीन्हें महल दुमहले, हमको दियो परदेस।
रे लक्खी बाबल मेरे, काहे को ब्याही बिदेस।
घर सुसरा लड़ै, घर सासड़ लड़ै, घर बालम लड़ै, मेरी कदर घटी।
पास पैसा हो तो मैं जहर खा मरूं, आंगन में कुंआ हो तो डूब मरूं।
सासु भी मारै, सोहरा भी मारै, बेअकला मारै, मैं बैठ लई मोटर में।
मत लड़े मोरी सास्सु जुदा हो जा री, अपणा झुम्मर भी ले ले, अपणा टिक्का भी ले ले।"

लोक-कवि के अपने छन्द, अपनी शैली और अपने शब्द-विन्यास होते हैं। उनका जितना ही अधिक अनुसरण किया जाय, उतना ही लोक-काव्य सुन्दर होता है। पर शिक्षा और सम्पर्क के साथ-साथ फैलती हुई नागरिक सभ्यता के अनुचित प्रभाव नई पीढ़ी के लोक-कवियों के ऊपर भी पड़ते जा रहे है। जिस भी घटना से लोकमानस उल्लसित या विकल हो जाता है, वह उससे कविता के रूप में निकल पड़ती है। नाथूराम गोडसे ने राष्ट्रपिता गांधी जी की नृशंस हत्या की, इस पर कोई कौरवी कवि-हृदय चिल्ला उठा[2]:

[1] सम्मेलन पत्रिका, संवत् २०१२, सख्या ३, पृ. ६१-६२ (सत्या गुप्ता).
[2] विशाल भारत, दिसम्बर १९५४, पृ. ४१४-१५ (सत्या गुप्ता).

ऐ नात्थूराम तूने जुलम करा, कैसे मारा गांधी ।
शान्तिदेवी राज करै थी, आगे लगा दी बांधी ।
चुल्हे आगे आहा छोड्या साग, गांधी जी के मारनिया ।
हारी में छोड्या साग, गांधी जी के मारनिया, तुझे कुछ ना आई लाज ।

हरियाणी कवि ने भी इसी निष्ठुर घटना का वर्णन किया है[1] :

थारी कृपा तैं उड़ी गुलामी तार्या भूमि का भार तनैं,
कुछ दिन पहले चांद छिपा था, शेर सपूत सुभास तेरा ।
अब तुम सूरज छिपा चाले, आ भारत में प्रकाश तेरा ।
गजब हो गए जुलम ढा दिए, पापी नत्थूराम तनैं,
हिन्दू महासभा और संघ को, खूब किया बदनाम तनैं,
पूना शहर हिन्द का दुश्मन, किया मरहठा जाम तनैं,
तीन फैर से ताज हिन्द का, कर दिया काम तमाम तनैं ।
हिन्दू होकर गऊ मार दी, मारणिए जा नाश तेरा ।

हिन्दी का लोक-साहित्य बड़ा समृद्ध है । उसका पूर्ण संग्रह होना चाहिए ।

[1] हिन्दुस्तान साप्ताहिक, ३० जनवरी १९५५, पृ. ७ (कन्हैयालाल मिश्र)।

उत्तर प्रदेश के लोकगीत

लोक-साहित्य सभी देशों और प्रदेशों का अपना अद्भुत सौन्दर्य और माधुर्य रखता है। उसके पीछे शिष्ट साहित्य की तरह ही एक लम्बी परम्परा है, जो शिष्ट साहित्य से कहीं अधिक बड़ी और अविच्छिन्न चली आयी है। शिष्ट साहित्य भी, बल्कि, लोक-साहित्य की ही उपज है। यद्यपि रुचि रखने वाले शिष्ट साहित्य में भी रस लेते है, किन्तु कितनी ही जगह उनका यह रसास्वादन उसी तरह का होता है, जैसे भाय-भाय करने वाले किसी बड़े उस्ताद का गर्दभ-स्वर संगीत सुन कर मुग्ध दर्शकों का सिर हिलाना और वाह-वाह करना। लोक-साहित्य के मार्ग में एक बाधा बराबर रही है, उसे स्थायित्व नही दिया गया। ढाई-तीन हजार वर्ष पहले जब भाषा लिपिबद्ध की जाने लगी, तो लिपि को शिष्ट साहित्य के लिए ही उपयुक्त समझा गया। मौखिक परम्पराओं मे उन्ही को लिपिबद्ध करने की कोशिश की गयी, जिन्हे शिष्ट समझा गया। ऋग्वेद के कुछ सरस अश—पुरुरवा-उर्वशी संवाद, विश्वामित्र की नदी-स्तुति—इसी तरह के हैं। छांदस—स्वाभाविक सस्कृत—काल (७०० ई. पू.) के बाद ईसा-पूर्व छठी-सातवी शताब्दी में छादस भाषा का स्थान पालियों ने लिया, जिसमें बुद्ध और उनके शिष्य-शिष्याओं की बहुत सी सूक्तियां संचित हुईं, पर उन्हे पाच शताब्दियो बाद ईसा-पूर्व प्रथम शताब्दी में ही लिपिबद्ध किया जा सका। इस वाङ्मय में भी कुछ लोक-काव्य मिलते है, जिनमे थेरीगाथा अपना विशेष महत्व रखती है। वैशाली की अतिसम्मानित धनाढ्य गणिका अम्बपालि पीछे बौद्ध भिक्षुणी हुई। उसने लोक-भाषा मे ही इन गाथाओं को रचा था :

"किसी समय भौंरे के समान कृष्ण वर्ण और घना मेरा केशपाश और सघन उपवन सी मेरी यह वेणी, पुष्पाभरणों और स्वर्णालंकारों से सुरभित और सुशोभित रहा करती थी, वही आज जरावस्था में श्वेत, गन्धपूर्ण, बिखरी हुई, जीर्ण सन के वस्त्रों जैसी झर रही है। सत्यवादी (बुद्ध) के वचन मिथ्या नही होते।

"गाढ़ नील मणियो से समुज्ज्वल, ज्योतिपूर्ण नेत्र आज शोभा-विहीन हैं।

"नवयौवन के समय सुदीर्घ नासिका, कर्णद्वय और कदली-मुकुल के सदृश पूर्व की दन्तपंक्ति क्रमशः ढुलकती और भग्न होती जा रही है।

"वनवासिनी कोकिला के समान मेरा मधुर स्वर और चिकने शंख की भांति सुघड़ ग्रीवा आज कम्पित हो रही है।

"स्वर्ण-मंडित उंगलियां आज अशक्त एवं मेरे उन्नत स्तन आज लुढ़कते शुष्क चर्म मात्र हैं।

"स्वर्ण नूपुरों से सुशोभित पैरों और कटि-प्रदेश की गति आज श्रीविहीन है।"

पालि-काल के बाद प्राकृतों का काल (१-५५० ई.) आता है। इस काल मे भी स्थानीय प्राकृतों में बहुत से सरस लोकगीत रचे गये। पर, उनके संग्रह की आवश्यकता नही समझी गयी, और वह दिशाओं में गुंजित हो आकाश में विलीन हो गये। यही स्थिति अपभ्रंश-काल (६००-१२०० ई.) मे भी रही। इतना अवश्य है कि प्राकृत और अपभ्रंश का जो विशाल साहित्य मुद्रित या अमुद्रित रूप मे हमारे पास पहुंचा है, उसकी सुन्दर कविताओ पर लोक-कवित्व की छाप मिलती है। संस्कृत कवियों की तरह उन्होने लोककवि-मानस को अछूत नही समझा और सदा उससे प्रेरणा लेते रहे। सुभाषित संग्रहों में उन्होंने लोक-कवियों की कुछ सूक्तियों को भी संग्रह करने की कृपा की। ग्यारहवीं-बारहवीं सदी के किसी अज्ञात कवि की सूक्तियां प्राकृत पैंगल में संगृहीत हुई हैं, जैसे,

ऊंची छाजन बि-मल धरा, तरुणी घरनी विनयपरा।
विस के पूरल गूंदधरा, वर्षा समया सुक्खकरा॥
प्रियग्भक्त प्रिया गुणवंत सुता।
घनवंत धरा, बहु सुक्ख-करा॥
पुणा जासु सुद्धा, वघू रूप-मुग्धा।
घरे वित्त जग्गा, मही तासु स्वर्गा॥
कमल - नयनि, अमिय - वयनि।
तरुणि घरनि, मिलै सुपुणि॥
गुरुजन भत्तउ, बहुगुण - युत्तउ।
जसु जिय पुत्रउ, सोइ गुणवंतउ॥
ओगर-भत्ता रंभा-पत्ता, गाय के घीवा दुग्ध-संयुक्ता।
मांगुर-मच्छा नालिप-शाका, दीजै कांता खाइ पुनवंता॥
(हिन्दी काव्यधारा, पृष्ट ३१५, ३१७)

अपभ्रंश-काल का अन्त बारहवीं सदी के अन्त या मुस्लिम शासन के

आरम्भ के साथ होता है। उसके बाद हमारी आज की लोक-भाषाओं का प्राचीन रूप उपस्थित होता है, जिसके नमूने हमें नाममात्र ही मिले है। उत्तर-प्रदेश में उस समय आज की तरह निम्न लोक-भाषाएं बोली जाती थी : कुमाईं, गढ़वाली, कौरवी, मध्यदेशीया ((क) उत्तर पंचाली (रुहेली), (ख) कनौजी, (ग) ब्रज, (घ) बुंदेली), अवधी (कोसली), ((क) उत्तरी, (ख) मध्य, (ग) पूर्वी, (घ) बैसवाड़ी, (ङ) दखिनी, (च) सीमान्ती (बघेली, छत्तीसगढ़ी)), भोजपुरी ((क) पश्चिमी (काशिका), (ख) पूर्वी (मल्लिका)) । इन सभी लोक भाषाओं-का लोक-साहित्य बहुत समृद्ध है।

मध्यदेशीया क्रम से प्राकृत (ईसा की पहली पाच शताब्दियां) और अपभ्रंश-काल (६००-१२०० ई.) मे एक ही भाषा थी, जो हिमालय की तराई मे नर्मदा तक बोली जाती थी, और आज भी जब हम रुहेली, कनौजी, ब्रज और बुंदेली को देखते हैं, तो यह साफ मालूम होता है कि यह वस्तुतः अवधी की तरह एक ही विशाल भाषा है, जिसमे भेद स्थानीय है, जो लोक-भाषाओं में भी हुआ करते है। पर, आज ब्रज या बुंदेली के पक्षपाती शायद इस एकता को स्वीकार करने के लिए तैयार नही है—उसी तरह, जिस तरह छत्तीसगढी (दक्षिण कोसली) वाले अपनी भाषा को अवधी का अंग मानने के लिए तैयार नही। इसमें कोई हरज नही है, यदि लोक-गाथाओं, लोक-कथाओ, लोकगीतों को स्थानीय रूप में जमा किया जाये। पर, एकता का ख्याल तो रखना ही होगा।

उत्तर प्रदेश सरकार का सूचना-विभाग अपने प्रदेश के चुने हुए लोकगीतो का एक अच्छा संग्रह प्रकाशित कर रहा है, जिससे मालूम होगा कि हमारे लोकगीत कितने सुन्दर है। यह विशाल लोक-साहित्य अब थोडे से बूढ़े कंठो में बच रहा है। अतः उसके नष्ट होने का भारी खतरा पैदा हो गया है। लोक-काव्य की कदर करना बहुत सुसंस्कृत दिमाग का काम है। ऐसे लोग हमारे यहां हैं, पर वह इस विशाल साहित्य को सुरक्षित करने की शक्ति और साधन नही रखते। कुछ ने यह काम किया है। वे हमारे धन्यवाद के पात्र हैं। हरेक शिक्षित और संस्कृत पुरुष और महिला का कर्तव्य है कि जो भी सुन्दर लोक-काव्य उनके कानो मे पड़े, उसे लिपिबद्ध करके सुरक्षित कर दें।

कौरवी से भोजपुरी के क्षेत्र तक पहुचने में रुहेली (मध्यदेशीया) और अवधी के विशाल क्षेत्र को पार करना पड़ेगा। लेकिन, लोकगीतों और लोक-पवाडों को ये सीमायें पार करना मुश्किल नही होता। इसीलिए एक ही गीत कई लोक-भाषा क्षेत्रों में प्रचलित है। आल्हा छपने से पहले मौखिक पवाडे के रूप में गाया जाता था, जैसा कि आज भी अक्सर देखने मे आता है। यह

कौरवी, मध्यदेशीया, अवधी और भोजपुरी मे मिलता है। चन्द्रावली की कथा शायद कोई वास्तविक घटना हो—

> अब रुत आई बाबा बीजणे की,
> सास्सु बरजे—"बऊ री, पणिया मत जा", इत्यादि।

लोक-काव्य के रचयिताओं का नाम बहुत कम ही मिलता है। किसी कोने में बैठा कोई कवि अपने भावों को गीत का रूप देता है। सुनने वाले उसे ले दौड़ते है, और कुछ ही समय मे वह सैकड़ों कोसो तक फैल जाता है। लोक कवि अपने उपनाम को गीत मे देने की जरूरत नहीं समझते। इस प्रकार लोक-काव्य अज्ञात कवि की रचना बन जाते हैं। कभी-कभी इसका अपवाद भी देखा जाता है। उन्ही अपवादों में १६४७ में २५-२६ वर्ष की उमर में मरा लोक-कवि बिसराम है। बिसराम का जन्म आजमगढ़ जिले में, शहर से कुछ दूर, टोंस नदी के किनारे जयरामपुर मे १६२० ई. के बाद हुआ था। ब्याह हुआ, चार ही वर्ष बाद पत्नी मर गयी। दोनों में अद्भुत प्रेम था। बिसराम इस वियोग को सह नहीं सका, और वही असह्य वेदना उसकी कविता में फूट निकली। उसने बिरहा छंद को पसन्द किया, जो अत्यन्त गंवारू छंद माना जाता है। वह न जाने कितने बिरहे अपने पाच-छ वर्ष के विधुर जीवन में गाता रहा। उसे लिखने का ख्याल नही हुआ—वह गांव की पाठशाला में चार दर्जे तक पढ़ा था और लिपिबद्ध कर सकता था। पर, अपनी मानसिक असतुलित अवस्था मे उससे इसकी आशा नही रखी जा सकती थी। बड़े अफसोस की बात तो यह है कि इस गुदड़ी के लाल को पहचान लेने पर भी लोगो ने १६-१८ बिरहों से अधिक को नही जमा किया। जिस दिन पत्नी की लाश जलाने के लिए निकाली गयी, उस दिन के दृश्य को बिसराम ने इस प्रकार व्यक्त किया :

> आजु मोरी घरनी निकरली मोरे घर से,
> मोरा फाटि गइले आल्हर करेज।
> "राम नाम सत" हो सुनि मैं गइलां बउराई।
> कवन रहसवा गइल रानो के हो खाई॥
> सुखि गइलीं आंसु नाहीं खुलेले जबनिया।
> कइसे के निकारों मैं तऽ दुखिया बचनिया॥
> कहे बिसराम नाहीं धनो रहलीं राम।
> रहले चारि जना के परिवार॥
> वोही में से घात एक ठे कइले पापी देवा।
> नाहीं कइले मोरे गरीबी पर विचार॥

बिसराम की आयु उस समय बीस वर्ष से ज्यादा नहीं थी। खाते-पीते किसान (सकरवार राजपूत) का लड़का था। दूसरा ब्याह होने में कोई दिक्कत नहीं थी, और घर वाले दूसरा ब्याह करने के लिए जोर भी देते थे, लेकिन बिसराम का कहना था :

पिताजी कहे "बेटा करबै बिअहवा दूसर,
काहे होला ओमें लवलीन" ।
एतनी तअ बतिया नाहीं जनता मोरे बाबा,
उनके सुरतिया मनवा में हो आसीन ।।
तूहें हउवे काम तिलकों में लेवा दाम,
हमरी दुसरी नियतिया हइ तात ।
जनम गंवइबे उनके नउवां हम रटि रटि,
दादा न हो करबै दुसरी के बात ।।
मौजी कहे "बाबू, हवा गुलाब के तू फुलवा,
ऊ तऽ रहे ढखवा के हो पात ।
तनी मुंह खोला तुहरा मइया लिअइहें बाबू
आहसे अच्छी हो सौगात ।
ढखवा के पतवा हमरा मनवां लोभइले
का हम करबै बेइली के लैके फूल ।
पतवा के छंहवा जो होते हमरे मौजी,
नाहीं उठते जियरा में अइसे सूल ।
बुढवा तऽ कहैं हमरी मरलि बाप मेहरिया,
कबहूं न तोरलीं आपन अइसे सरिरिया ।
कहे ते जवनका मेहरी मरे बहुत जग में,
उन कर मरदवा नाहीं रोवे अइसे मग में ।
इनहीं के सीता जनूं मरलि बाटीं जग में,
ई तऽ रोवैं नित जरियां बेजार।
एक ठे मेहरिया के मरत ई बेहंगवा ।
गयल अपनो हिमतिया अइसे हार ।।

जिस पीपल के नीचे बिसराम की पत्नी को जलाया गया था, उस के नीचे अक्सर वह जाकर अपने कंठ से बिरहो और आखों से आंसुओ को निकालते अपनी प्रियतमा का स्मरण करता था। पीपल को ही सम्बोधित करके उसने कहा था :

जुग-जुग रहिहऽ एही घाट प पिपरवा,
एक ठे तूहीं बाटऽ संघिया हमार ।।
जुग-जुग पीपर एही घटया प रहिहऽ ।
जग के सुख-दुख एही नदिया से कहिहऽ ।।
नाहीं जग में हो सुखवा त मोरे भाई ।
दिसवन में फैलि रहे हरदम रोआई ।।
रोअत बाटे मछरी, रोवे जल के चिरइया ।
दुरवा प रोवे बछ से छुटल गइया ।।
ऊपर से हंसी हम, दिलवा में रोईं ।
रात-दिन सोंचत आपन जिनिगी के खोईं ।।
कहे बिसराम, पीपर करिहऽ इहै काम,
कहिहऽ पथिकन से बतिया तमाम ।।
मोरी जरिया पऽ आके नित ऊ त रोवे,
एक ठे रहल दुखिया हो बिसराम ।।

बिसराम को कवि का हृदय और कल्पना मिली थी, जो जागृत हुई थी अपनी पत्नी के अनन्त वियोग के कारण । इसीलिए मनोरम दृश्यों में उसके हृदय में करुण रस का ही प्रादुर्भाव होता था । सावन के मनोहर दृश्य को देख कर वह कहता है :

आइल बाटे सावन के महीना मोरे भइया,
रहि-रहि उठे बदरा हो घनघोर ।।
उडेला पपीहा आपन गितिया सुनावत ।
चलेली बेआरि जियरा के लहरावत ।।
उडेलें बकुलवा जइसे बेइलि के गजरा ।
बदरा के टुकडी नभवा में करे झगरा ।।
परल बा झुलवा पर झूलत बाटीं नारी ।
रहि-रहि हिल्लें ओहि पेडवा के डारी ।।
चारों ओर से कजरी सुनावे मोर भइया ।
जेहि सुनि फाटेला करेजा मोर दइया ।।
कहे बिसराम दुनिया करत बा आराम,
नाचत बाटे बनवा मे खूब मोर ।
रामा मोरो रानी भइली स्वाती के पानी ,
मोर फाटत बाटे जियरा के कोर ।।

चादनी रात को देखकर बिसराम का हृदय फटने लगता है :

छवले बाटे घपघप अंजोरिया सारे जग में,
रहि-रहि एहर-ओहर उडेला त लूक ।।
उडेला त लूक उडे राही भूलल पंखी ।
हम त सुतल आपन खटिया पऽ झंखी ।।
झनकि-झनकि झींगुर बतिया उचारे ।
हुलसि-हुलसि उल्लू-घरनि पुकारे ।।
दुरवा पऽ ताड एक ठे देत बा देखाई ।
केहूके याद में जानु लेत बा जमुहाई ।।
घहर-घहर करत अइलो तब रेलिया ।
छन भर भुललीं अपने दुख के पहेलिया ।।
एतने में बोलल एक कउआ दुखारी ।
बइसल रहे बंसवा के पुनुई के डारी ।।
तोरा जोड़वा के मरले चिबिल्ला कउआ,
मोर जोड़वा के मरले राम ।
उनके मनवां छन भर बहलले कउआ,
हमनके तडपे नित प्रान ।।

बिसराम जैसे न जाने कितने अद्भुत कवि हमारे देश मे विस्मृति के गर्भ में जाने के लिए तैयार है। क्या हम अपना कर्त्तव्य पालन करते उनकी रक्षा करने मे समर्थ होंगे ?

७

चौरासी सिद्ध

चौरासी सिद्ध शब्द अब भी बिहार और युक्त प्रान्त में सर्वसाधारण में प्रसिद्ध है, तो भी चौरासी सिद्धों के नाम कोई भी नहीं बतला सकता। एक ओर ये ही चौरासी सिद्ध हिन्दी के आदि कवि हैं, तो दूसरी ओर बौद्ध धर्म में वज्रयान सम्प्रदाय की नींव डाल कर भयंकर क्रान्ति करने वाले भी ये ही हैं। भारत के साधकों में अनेक प्रसिद्ध आसनों और मुद्राओं का प्रचार करने वाले भी ये ही थे। भैरवीचक्र तथा गुह्य समाजों को एक समय लोकप्रिय कर देने का भार भी इन्हीं को प्राप्त था। हजारों मन्त्र-तंत्र और सैकड़ों वीभत्स देवी-देवताओं के सृष्टा भी ये ही थे। इस प्रकार इतिहास, साहित्य, योग, वाममार्ग, मंत्र-शास्त्र, दर्शन आदि कई दृष्टियों से इन पर विचार किया जा सकता है। परन्तु इस छोटे से लेख में इन सब विषयों की चर्चा नहीं हो सकती।

चौरासी सिद्धो पर प्रकाश डालने वाली अधिकांश सामग्री भोटिया (तिब्बती) भाषा में है। कुछ थोड़ी सामग्री नेपाल से भी मिल सकती है। दोनों देशों मे जो आजकल बौद्ध-धर्म है, वह वस्तुतः चौरासी सिद्धों का प्रचारित धर्म है। सिद्धों को गुरु भी कहते है। भोटिया शब्द 'लामा' का भी अर्थ गुरु है। तिब्बत के लामाओ का धर्म, उत्तरी भारत के आठवीं से ग्यारहवीं शताब्दी के बौद्ध-धर्म का बहुत कुछ प्रतिनिधि है। भारत मे हमारे समाज के अन्तस्तल मे अब भी सिद्धो का धर्म दूसरे नाम से कुछ फेर के साथ वर्तमान है। आजकल के बहुत से संप्रदाय यह जान कर हैरान होंगे कि उनके पारिभाषिक शब्द, उनकी रहस्य-क्रियायें, भावनायें जाकर इन्हीं सिद्धो में मिलती हैं। सिद्ध सभी के सभी वाममार्गी थे। यद्यपि यही बात तिब्बत मे सुनी जाती है, तो भी उत्कृष्ट प्रकार की शुद्ध गम्भीर कृतियो के देखने से दिल इसे सहसा मान लेने को तैयार नहीं होता कि वे वाममार्गी थे। भावना और शब्द-साखी मे कबीर से लेकर राधास्वामी तक के सभी सन्त चौरासी सिद्धो के ही वंशज कहे जा सकते हैं। कबीर का प्रभाव जैसे नानक तथा दूसरे सन्तो पर पड़ा और फिर उन्होंने अपनी अगली पीढ़ी पर जैसे प्रभाव डाला, इसको शृंखलाबद्ध करना कठिन नहीं है। किन्तु कबीर का संबंध सिद्धो से मिलाना उतना आसान नहीं है, यद्यपि भावनाओं, रहस्योक्तियों, उल्टी बोलियों की समानता बहुत स्पष्ट है। फर्क इतना ही है कि कबीर शाक्त को फूटी आख से भी नहीं देख सकते, जबकि ये सिद्ध बहुत

हद तक शाक्त ही कहे जा सकते है। वज्रतारा, वज्रयोगिनी, विजया, वाराही, कुरुकुल्ला आदि देवियां ही थी। भोटिया साहित्य की सहायता से हम इनकी धारा को बारहवीं शताब्दी तक ला सकते हैं। लेकिन बाद की कबीर तक की तीन शताब्दियों का भरना असंभव-सा मालूम होता है।

चौरासी सिद्धों में से कितनों ही पर कुछ बंगाली विद्वानों ने प्रकाश डाला है। किन्तु एक तो मूल तिब्बती सामग्री उनके पास पर्याप्त नही है, अनुवाद भी पुराने और अधूरे हैं, दूसरे सबसे बडा दोप उनका प्रान्तीय पक्षपात है, जिससे वहा के बड़े विद्वान भी बरी नही हैं। जिस प्रकार अभी कल तक विद्यापति सोलहों आने बंगाली माने जाते थे, वैसे ही आजकल चौरासी सिद्ध भी बगला भापा के आदि कवि समझे जा रहे हैं, यद्यपि उनसे संबद्ध पीठ नालन्दा और विक्रमशिला का ही ख्याल किया गया होता, तो मालूम हो जाता कि उन पर बंगाल से अधिक दावा विहार का हो सकता है। इन बातों पर विशेप विवेचना तो एक-एक सिद्ध को ही लेकर हो सकती है।

सिद्धों की परम्परा को हम मोटे तौर से विहार के पाल-वश के साथ उत्पन्न और समाप्त मान सकते है। इनके चौरासी नामों की तालिका में हम प्रथम नाम लुईपा का पाते है, यद्यपि काल-क्रम के अनुसार नागार्जुन का नाम पहले होता है। सिद्धों के आदि गुरु नागार्जुन महायान माध्यमिक सम्प्रदाय के सस्यापक कभी नही हो सकते। यह या तो कल्पित नाम है, या यदि कोई सिद्धाचार्य इस नाम का हुआ है, तो वह पुराने नागार्जुन के चार-पांच शताब्दियों के बाद हुआ है। पंकज, नागबोधि और लुईपा सबसे पुराने सिद्ध है, जिनका काल सातवी शताब्दी का अन्त है।

नारोपा और उनके शिष्य कुसुली अन्तिम सिद्ध है। कुसुली कई हुए हैं, इसलिए नारोपा का शिष्य चौरासी सिद्धों मे एक है या दूसरा, यह कहना अभी मुश्किल है। नारोपा दीपंकर श्रीज्ञान के गुरुओ में थे, और इस प्रकार उनका समय दसवी शताब्दी का अन्त माना जा सकता है।

इस प्रकार, चौरासी सिद्धों का समय यही तीन सौ वर्षों का है। तिब्बती तंजूर मे उनकी पूरी नामावली तथा उनके कुल और समय का उल्लेख हुआ है।

इन सिद्धों में कितने ही सस्कृत के धुरधर पडित और ग्रन्थकार थे। कवि होना तो मानो सिद्ध होने के लिए अनिवार्य था, और सो भी देशी भापा का कवि। मातृभाषा की इनकी कविताए अधिकतर दोहा-गीति, या दोहाकोप-गीति, वज्रगीति, दृष्टि या चर्यागीति के नाम से प्रसिद्ध हैं।

पुराने हिन्दी महाकवियों के लिए जैसे रीति-ग्रथ लिखना आवश्यक था, वैसे ही इन सिद्धों मे दोहाकोप लिखना भी आवश्यक था।

लुईपा, सरहपा और कण्हपा के दोहाकोप तिब्बत में दोहा-कोशा सुम (तीन दोहाकोप) के नाम से प्रसिद्ध है।

वज्र-गीतियों में कण्हपा, नाड़पा और शवरीपा की अधिक प्रसिद्धि है। चर्या-गीत, महामुद्रा-गीति आदि नाम से बहुत से इनके गीत भी हैं। कुछ गीतों का अब भी नैपाली बौद्धों में प्रचार है। किन्तु उनकी भापा बहुत बदल दी गयी है।

इन सिद्धों की कविताए एक विचित्र आशय की भापा को लेकर होती हैं। इस भापा को संध्या-भापा कहते है, जिसका अर्थ अंधेरे में (वाममार्ग मे) तथा उजाले (ज्ञानमार्ग, निर्गुण) दोनो में लग सके। सध्या भापा को आजकल के छायावाद या रहस्यवाद की भापा समझ सकते है। सरह और कण्ह के दोहाकोपो तथा कितने ही सिद्धो की फुटकर कविताओं के संग्रह चर्याचर्यविनिश्चय को महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री ने बौद्धगान ओ दोहा के नाम से बगला मे छपवाया है।

भोटिया तंजूर में कण्हपा के वज्र-गीति का ही मूल मिलता है। नैपाली लोगों की पूजा में गाये जाने वाले भजनो के चचो नामक सग्रहो मे भी बहुत से गीत चौरासी सिद्धों के मिलते है। मैंने चचो की जो कापी करवायी है, उसमें आजकल के गाने का उच्चारण आदि हो गया है, इसीलिए शुद्ध तत्कालीन भापा नही है। महामहोपाध्याय जी ने पुराने हस्तलिखित ग्रन्थ के आधार पर पुस्तक को सम्पादित किया है, इसलिए उनके उच्चारण आदि बहुत कुछ पुराने जैसे है।

यहा भुसुक की कविता के कुछ उदाहरण देता हूं। भुसुक का दूसरा प्रसिद्ध नाम शातिदेव है। शातिदेव बोधिचर्यावतार, शिक्षा-समुच्चय नामक सस्कृत के दो उपलब्ध ग्रन्थो तथा सूत्र समुच्चय के यशस्वी लेखक हैं। कहते हैं, नालन्दा में एक दिन महाराज देवपाल के मुह से यह नाम निकल आया और तभी से शातिदेव का नाम भुसुक पड गया।

राग बराडी ।२१॥

निसि अन्धारी सुसार चारा।
अमिअ भखअ मूसा करअ अहारा ॥ ध्रुव ॥
मार रे जोइया मूसा पवना।
जेण तुटअ अवण गवणा ॥ ध्रु. ॥
भव विदारअ मूसा खणअ गती।
चंचल मूसा कलिआं नाश करथाती ॥ध्रु ॥
काला मूसा उहण वाण।

गआणो उटि चरअ अमण धाण ॥ ध्रु. ॥
तव से मूषा उंचल पांचल।
सद्गुरु बोहे करिह सो निच्चल ॥ ध्रु. ॥
जबें मूषा एरचा तूटअ।
भुसुक मणअ तबें बान्धन फिटक ॥ ध्रु. ॥

छाया अनुवाद

निसि अंधियारी संसार संचारा।
अमिय-भक्ख मूसा करत अहारा॥
मार रे जोगिया मूसा पवना।
जेहिते टूटई अवना गवना॥
भव विदार मूसा खनइ खाता।
चंचल मूसा करि नाश...॥
काला मूसा उरध न वन।
गगने डीटि करइ मन-विनु ध्यान॥
तव सों मूसा चचल-चंचल।
सद्गुरु बोधे करु सो निहिचल॥
जबहि मूसा आचार टूटइ।
भुसुक भनत तव बंधन यू फाटइ।

राग बडारी ॥ २३ ॥

जइ तुम्भे भुसुक अहेइ जाइबे मारिहसि पंचजना।
नलिनी-वन पइसन्ते होहिसि एकुमणा॥ ध्रु. ॥
जीवन्ते भेला विहणि मएल णअणि।
हण-विणु मांसे भुसुक पदम-वन पइसहिणि ॥ ध्रु. ॥
माआजाल पसरिउ ऊरे बाधेलि माआ-हरिणि।
सद्गुरु बोहें बूझि रे कासू कहिनि॥

छाया अनुवाद

जो तोहि भुसुक जाना मारहु पंच-जना।
नलिनी-वन पइसन्ते होहिसी एकु-मना॥
जीवत भइल विहान मरि गेल रजनी।
हाड़-बिनु मांसे भुसुक पदुम-वन पइसिहनि॥
माया-जाल पसारे ऊ रे बांधेल माया-हरिणि॥
सद्गुरु बोधे बूझी कासो कथनी॥

राग कामोद ॥ २७ ॥

अध-रात भर कमल विकसउ।
बतिस जोइणी तसु अंग उल्हसि ॥ ध्रु. ॥
चालि उअ षषहर मागे अवधूई।
र अणहु परजे कहेई ॥ ध्रु. ॥
चालिअ षषहर गउ निवाणें।
कमलिनि कमल कहइ पणालें ॥ ध्रु. ॥
विरमानन्द विलक्षण सुध।
जो एथु बूझइ सो इथु बुध ॥ ध्रु. ॥
भुसुक भणइ मइ बूझिआ मेलें।
सहजानन्द महा-सुह लेलें ॥ ध्रु. ॥

छाया अनुवाद

अर्ध रात भर कमल विकस्यो।
बतिस जोगिनी तव अंग हुलस्यो ॥
चलिके शशधर (चंद्र) मग अवधूती।
रतनहु सहज कहाई ॥
चलिके शशधर गयो निर्वाणे।
कमलिनि कमल कहइ पनाली ॥
विरमानन्द विलच्छन सुद्ध।
जो इहं बूझइ सो इहं बुद्ध (पंडित)।
भुसुक भनत मैं बूझी मिलिके।
सहजानन्द महासुख लेलें ॥

सरहपा के कुछ दोहों के नमूने :

अणिमिष लोअण चित्त निरोधें।
पवन णिरु हइ सिरि गुरु बोहें ॥
पवन वहइ सो निच्चलु जब्बें।
जोइ कालु करइ कि रे तब्बें ॥
(सरह दोहाकोष, पृष्ठ १०६)

छाया अनुवाद

अनिमिष लोचन चित्त निरोधे।
पवन निरोधइ श्रीगुरु बोधे ॥
पवन वहै सो निश्चल जबैं।
जोगी काल के करैं का तबैं ॥

कण्हपा के दोहाकोष के कुछ दोहे :

लोअह जब्ब समुब्बहइ हउ परमथे पवीन ।
कोटिह माह एक जत होइ निरंजन-लीन ॥
आगम-वेअ-पुराणे पंडिउ मान बहन्ति ।
पक्क सिरिफल अलिअ जिम, वाहेरित भ्रमयन्ति ॥

छाया अर्थ

लोक गर्व समुद्वहन करता है क्योंकि परमार्थ में प्रवीण होकर, कोटि मे एक निरंजन में लीन होता है। आगम वेद पुराण में पडित अभिमान करते है, पके श्रीफल के वाहर जैसे भ्रमर भ्रमण करते हैं।

उपर्युक्त उदाहरणों से सिद्धो में से कुछ सिद्धो की रचना का परिज्ञान ही नहीं होता है, किन्तु उनका हिन्दी के अतिप्राचीन रूप से सबंध भी प्रकट होता है। हिन्दी के भाषा-विज्ञानियों का, आशा है, इस ओर ध्यान आकृष्ट होगा। सिद्धो की इन रचनाओं से हिन्दी के आरंभिक रूप को स्पष्ट करने में उन्हें वड़ी सहायता मिलेगी।

सिद्ध कवियों की भाषा

वाण के कहने से मालूम होता है कि सातवी शताब्दी के आरम्भ मे भी भाषा-कवि प्रतिष्ठा पाने लगे थे। सातवीं शताब्दी का आरम्भ भारत के लिए एक भारी परिवर्तन का समय है। मौर्यों, शुगों, शातवाहनों और गुप्तों के समय में कितने ही अंशो मे भारत की एकता के प्रयत्नो के बाद कनौज के शीलादित्य हर्षवर्द्धन ने अपनी दिग्विजय द्वारा भारत की राजनीतिक एकता सम्पादित करने की कोशिश की थी। लेकिन, दक्षिण में उसे सफलता नहीं मिली। इस समय की उत्तरी भारत की वाणकथित "भाषा", अपभ्रंश ही हो सकती है। हमारे शिक्षितों को भी भाषा के संबंध में वहुत भ्रम है। वह समझते हैं कि संस्कृत, प्राकृत और उसके बाद व्रज, अवधी, मैथिली आदि भाषाएं आ जाती हैं। लेकिन वास्तविकता यह नही है। यदि हम साहित्यिक भाषाओं को लेते है, तो सस्कृत, पाली, प्राकृत, अपभ्रंश और आज की भाषाएं—क्रम इस प्रकार है। बोलचाल की भाषाओं को लेने पर हमें और भी फर्क करना होगा। सस्कृत उस समय दो टुकड़ों में बंट जायेगी, जिसमे एक वह भाषा थी, जो कि आर्यों के भारत में आने से हजार वर्ष तक उनकी अपनी बोलचाल की भाषा रही। हजार वर्ष का समय इतना वड़ा है कि उसमें आलस के कारण परिवर्तन न हुआ हो, यह नही माना जा सकता।

प्रथम हजार वर्ष मे ही वह सिन्धु से कोसी-तट तक और हिमालय की तराई से विन्ध्याचल तक फैल गये। इस देश-भेद से भी आर्यों के भिन्न-भिन्न जनों की भाषा मे भेद हुआ होगा, इसमें सन्देह नहीं। हमारी सबसे पुरानी सुरक्षित भाषानिधि ऋग्वेद-संहिता मे उच्चारण में तो स्पष्ट परिवर्तन देखा जाता है। इन्दो-यूरोपीय भाषा-भाषियों का जिस पूर्वी या शतम् वंश से भारतीय आर्यों का संबंध था, उसमें टवर्ग का अत्यन्ताभाव है—पूर्वी और पश्चिमी सारी स्लाव जातियां टवर्ग नहीं बोल सकतीं। और तो और, भारतीय आर्यों के सहोदर ईरानी आर्य भी टवर्ग नही बोल सकते। पर, ऋग्वेद के पहले ही मन्त्र में हम "अग्निमीड़े" मे टवर्ग या मूर्धन्य उच्चारण पाते हैं, जिससे स्पष्ट है कि सिन्धु से गंगा की उपत्यका मे पहुंचने तक टवर्ग का प्रवेश भारतीय आर्यों की भाषा में हो चुका था। ऋग्वेद प्राय: सारा कुरु-पचाल में (गगा-यमुना की उपत्यका याने पश्चिमी उत्तर-प्रदेश में) दिवोदास, सुदास् और उनके वंशजों के समय

बना, यह आन्तरिक साक्ष्य से सिद्ध है। केवल भारतीय परम्परा और आग्रह का ही ख्याल न करके जब इन्दो-यूरोपीय जातियों के इतिहास के संबंध की सामग्री को भी हम लेते है, तो ईसा पूर्व २००० के आस-पास ही आर्यों के सिन्धु तट पर पहुंचने को हम मान सकते हैं, और सुदास-दिवोदास का काल उससे पाच सौ वर्ष पीछे माना जा सकता है, इस प्रकार ऋग्वेद की भाषा ईसा पूर्व १५०० के आस-पास की है। लेकिन, साथ ही यह भी ध्यान रखने की बात है कि वेद कितनी ही पीढ़ियों तक कठस्थ या श्रुति रूप में चले आये। उनके लिपिबद्ध होने के समय तक उच्चारण में कुछ अन्तर जरूर आ गये होंगे। इसकी पुष्टि हमें पाली भाषा के सबसे पुराने लिपिबद्ध साहित्य त्रिपिटक से भी मिलती है। सुत्त, विनय और मातिका (अभिधर्म) ईसा पूर्व ५वी शताब्दी से ईसा पूर्व प्रथम शताब्दी तक श्रुति रूप में चले आये थे। बुद्ध से ४०० वर्ष बाद सिंहल श्रुतिधरों के मुह से सुन कर जब वे लिपिबद्ध किये गये, तो उच्चारण में इतना परिवर्तन हो गया कि पुराने आचार्यों के त्रिपिटक की भाषा मागधी है यह बार-बार दोहराने पर भी, उसमें मागधी के कुछ विशेष लक्षणों का अभाव देखा जाता है—मागधी मे 'र' का 'ल' आम होता है और 'स' का बायकाट करके 'श' का प्रयोग ही देखा जाता था। इन दोनों का त्रिपिटक की भाषा में अभाव-सा है। ४०० वर्षों के काल और भारत से सिंहल के देश-परिवर्तन से जब हम इतना अन्तर देखते है, तो मानना पड़ेगा कि ऋग्वेद के लिपिबद्ध होने के समय उसकी भाषा के उच्चारण आदि मे जरूर कुछ परिवर्तन हुआ होगा। लेकिन, तो भी हमे यह मानना पड़ेगा कि ऋग्वेद की भाषा बोलचाल की भाषा के अत्यन्त नजदीक है, जैसे त्रिपिटक की "पाली" बुद्धकालीन मागधी के अत्यन्त नजदीक है।

बहुत कुछ बोलचाल की वेद की भाषा को पाणिनि (ई पू. चौथी सदी) ने "छांदस्" भाषा कहा है। जिस भाषा का सुव्यवस्थित व्याकरण बनाने का सबसे अधिक श्रेय उनको मिला है, उसे वह "भाषा" कहते है, जिससे भ्रम हो सकता है कि पाणिनि की यह "भाषा"—जिसे ही पीछे और आज भी सस्कृत कहा जाता है—बोलचाल की भाषा थी। पाणिनि के समय "पाली" वाली मागधी की बहनें ही भारत के सभी आर्य-जनों में बोली जाती थी, जिनके स्थानीय रूप बहुत थोड़े से अशोक के इन-उन प्रदेशों में मिलने वाले शिलालेखों में प्राप्त हैं। पाणिनि स्वीकृत "भाषा" इस प्रकार सस्कृत (संस्कार की हुई) और केवल साहित्यिक अथवा पढ कर व्यवहार की जाने वाली भाषा थी। विद्वानों ने "छान्दस्" और "भाषा" (सस्कृत) की तुलना करके दोनों के विभेद और परिवर्तन को माना है। इन परिवर्तनों को अच्छी तरह जानने के लिए काल-क्रम से

"छान्दस्" और "संस्कृत" की काव्यधारा और गद्यधारा के संग्रह की आवश्यकता है।

संस्कृत (छान्दस् और पाणिनि-स्वीकृत भाषा) के बाद पाली आती है, जिसके बारे मे हम बतला चुके हैं कि वह विशेषकर सुत्त और विनय पिटकों की भाषा के कुछ उच्चारणो के परिवर्तन के साथ-साथ मगध (बिहार) की भाषा थी। इसमें भावों को ही नही, भाषा को भी शुद्ध रूप मे रखने की कोशिश की गयी। इसके लिए ही बौद्ध-भिक्षुओं की तीन-तीन सगीतिया (परिषदें) हुई, लेकिन जब तक कि सिंहल में जाकर ईसा पूर्व प्रथम शताब्दी में वह लिपिबद्ध नही हो गयी, तब तक उसमें कम-से-कम उच्चारण में परिवर्तन हुए बिना नही रहा। पाली मे बोलचाल की भाषा का अत्यन्त नजदीक वाला रूप सुत्तपिटक और विनयपिटक की भाषा है। उसके बाद संस्कृत की तरह ही आज भी सिंहल (श्रीलंका), बर्मा, स्याम और कम्बोज मे पाली भाषा में ग्रंथ लिखे जाते हैं, काव्य रचित होते हैं, विद्वान् एक-दूसरे से मिलने पर अपने संवाद में पाली का सहारा लेते हैं। वस्तुत: पुराने आचार्य इस भाषा को पाली नही मागधी कहा करते थे। पाली से वह केवल बुद्ध के श्रीमुख से निकली पक्तियो को लेते थे, जिसे भ्रमवश १९वी शताब्दी के पाश्चात्य विद्वानो ने पाली कहना शुरू किया, और इस प्रकार संस्कृत तथा प्राकृत के बीच के समय की भाषा को "पाली" नाम दे दिया गया। इसका बोलचाल की भाषा के रूप में समय ईसा पूर्व छठी शताब्दी से ईसवी सन के आरम्भ तक माना जा सकता है, जिसके नमूने पिटक के अतिरिक्त अशोक, खारवेल और कुछ दूसरों के शिलालेखों में मिलते है।

प्राकृत तथाकथित पाली के बाद की भाषा है, जिसका समय मोटे तौर से ईसा की आरम्भिक छः शताब्दियां मानी जा सकती हैं। संसार में वस्तुओं के विकास की स्पष्ट सीमारेखा खिचना असभव है, इसलिए सन्धि-काल के समय के संबंध में सन्देह हमेशा बना रहेगा। तथाकथित पाली किस शताब्दी में समाप्त हुई, और किस शताब्दी में उसका स्थान प्राकृत ने लिया, इसके बारे में "इदं इत्थं" कहना मुश्किल है। यह भी याद रखने की बात है कि नये पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग पहले ही रूढ़ि में नही आ जाता है। वह पहले सामान्य अर्थ मे होता है, पीछे रूढ़ि बन जाता है। ईसा पूर्व द्वितीय शताब्दी से मध्य मे अपने व्याकरण-महाभाष्य को लिखते समय पतंजलि ने जिसे "अपभ्रंश" कहा है, उससे उनका अभिप्राय पाणिनीय सस्कृत से भिन्न तत्कालीन बोलचाल की भाषा से था, जो प्राकृत की पूर्वजा "पाली" ही हो सकती थी। लेकिन, आज जिस भाषा को अपभ्रंश नाम दिया गया है, वह उसकी पुत्री भी नहीं पौत्री भाषा है, जिसमें सिद्धों ने अपनी कविताएं कीं।

प्राकृत का उत्कर्ष काल तीसरी-चौथी शताब्दी है, जब कि कालिदास, प्रवरसेन आदि उसके महान कवि हुए। प्रवरसेन के नाम से प्रसिद्ध प्राकृत के महान काव्य सेतुबन्ध के वास्तविक कवि कालिदास हैं, जिसे उनसे वाकाटक-महाराजा प्रवरसेन ने उसी तरह चुपचाप खरीद लिया, जैसे हर्षवर्द्धन ने अपने दरबारी कवि बाण की कुछ कृतियों को खरीदा। नाटकों में कितने ही पात्रों के लिए उपयुक्त प्राकृत के अतिरिक्त गाथा सप्तसती, सेतुबन्ध, गौड़वध आदि धर्म-निरपेक्ष अनमोल कृतियों के सिवाय एक विशाल भंडार इस भाषा का जैन धार्मिक ग्रंथों के रूप में मिलता है। चौथी शताब्दी में पाणिनीय संस्कृत की प्रधानता स्थापित होने के पहले प्राकृत के कुछ शिलालेख भी मिलते हैं।

अपभ्रंश प्राकृत की पुत्री और उत्तराधिकारिणी है, जो सातवीं से बारहवीं शताब्दी तक चलती चली आती है। यह संयोग की बात नहीं हो सकती थी कि भारत की इन प्राचीन भाषाओं में से हरेक का युग ५-६ शताब्दियों का देखा जाता है। अपने युग में पहले ये भाषाएं शुद्ध लोक-भाषा के तौर पर अस्तित्व में आती हैं। उस समय अपने से प्राचीन भाषा की पाँती में बैठना उनके लिए वैसे ही मुश्किल होता है, जैसे नाबालिग को अपने बालिग पूर्वज की पाँती में। इस आदिकाल में, जिसे आसानी के लिए हम दो शताब्दियों का कह सकते हैं, उसके प्रयोग करने वाले केवल जनकवि और जनसाधारण होते हैं। सच्ची प्रतिभासम्पन्न जन-कविता के सामने शिष्टों की कविता सूर्य के सामने दीपक-सी होती है, इसकी गवाही वे सहृदय पाठक दे सकते हैं, जिन्होंने भोजपुरी के कवि बिसराम के बिरहों को सुना है, अथवा राजस्थान के पंवाड़े पाबू जी का अवलोकन किया है। पाबू जी की पत्नी (सोढ़ी जी), और उनकी भाभी जिस वक्त अपने पतियों के लिए सती होने की तैयारी करती हैं, उस स्थल को पढ़ते समय एक-एक पंक्ति पर पाठकों को आंसू रोकना मुश्किल हो जाता है। यह सहज सुन्दर कविता है। सहज सौंदर्य रखने वालों के लिए अलंकारों की कोई आवश्यकता नहीं होती, इसे यह कविता बतलाती है। इससे यह भी मालूम हो जाता है कि कविता का प्राण रस है, अलंकार का स्थान उसमें बहुत गौण है। बिसराम या "पाबू जी" के अज्ञात कवि की तरह प्राकृत या अपभ्रंश के शैशव काल में भी कितने ही अद्भुत कवि रहे होंगे, उनकी कविताएं जनता के सबसे अधिक भाग को रसाप्लुत करती होंगी, लेकिन वे बालू की रेखा की तरह मिट गयी। उन्हें किसी ने सुरक्षित करने की आवश्यकता नहीं समझी, क्योंकि वे ग्राम्य थीं, जिन्हें लम्बी नाक वाले प्रतिष्ठा देने को तैयार नहीं थे।

लेकिन इन विस्मृत जन-कवियों ने लुप्त होकर भी यह बतला दिया कि मृत भाषा में ही नहीं, जीवित (ग्राम्य) भाषा में भी सुन्दर कविता हो सकती

है, इसीलिए शैशव के बाद की शताब्दियों में लम्बी नाक वाले भी उसमें की गयी कविता को मानने, अर्थात् शिष्ट समझने के लिए बाध्य होते हैं। अपभ्रंश की शैशव कविता का नमूना हमारे पास नहीं है, बाण के लिखने से इतना ही मालूम है कि भाषाकवि सातवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में कम-से-कम संस्कृत के एक सहृदय महाकवि के प्रशंसासूचक दो शब्दों ("भाषा कविः ईशानः परम-मित्रम्") के पाने के अधिकारी थे। तो भी अभी उनकी कविता इसके योग्य नही समझी गयी कि उसे सुरक्षित किया जाये।

सिद्धों के रूप में अपभ्रंश के प्रथम कवि हमारे सामने आते है। सिद्धों में से अधिकाश या तो विहार में पैदा हुए थे, या उनका घनिष्ठ सबंध विहार के महान विहारों—नालन्दा, उड्यन्तपुरी और विक्रमशिला—से था। आदि सिद्धों की सख्या ८४ है, जिनमें सबसे पहले काल और महिमा मे सरहपा का नाम आता है। सरहपा और उनके प्रधान शिष्य शबरपा विहार-बंगाल के राजा धर्मपाल (७६९-८१५ ई.) के समकालीन थे। प्रतापी पाल वंश का संस्थापक गोपाल ७६५ ई. के करीब गद्दी पर बैठ कर चार वर्ष शासन कर पाया। उसके बाद ४६ वर्षों तक उसके पुत्र धर्मपाल ने शासन किया। एक समय धर्मपाल कान्यकुब्ज-साम्राज्य का भाग्य-विधाता-सा बन गया था, लेकिन उस समय राष्ट्रकूट ध्रुव (७८०-९४ ई.) और प्रतिहार देवशक्ति वत्सराज (७८३-८१५ ई.) भी उसके प्रतिद्वंद्वी थे, जिनमें वत्सराज कान्यकुब्ज को केवल चेरी नही, बल्कि अपनी राजधानी बनाने के लिए तैयार था, और अन्त मे कान्यकुब्ज की राज्यलक्ष्मी ने उसी के गले में वरमाला डाली।

सरहपा गोपाल और धर्मपाल के समकालीन थे, अर्थात् उनकी भाषा मगध की वही भाषा थी, जो कि आठवी शताब्दी के उत्तरार्ध मे बोली जाती थी।

अपभ्रंश के अनेक महाकाव्य आज मौजूद हैं। उसके सारे साहित्य को इकट्ठा करने पर वह कई महाभारतों के बराबर होगा। अफ़सोस है कि अभी उनमें से बहुत कम ने प्रेस का मुह देखा है, बाकी जैन भडारो मे शताब्दियों से बन्द, किन्तु सुरक्षित हैं। अपभ्रंश-साहित्य का हमारी आज की हिन्दी, गुजराती, पंजाबी, मराठी, उड़िया, बगला, असमिया आदि के साहित्य से बहुत घनिष्ठ सबंध है।

अपभ्रंश को छोड़ कर हम हिन्दी के साहित्य को समझ नही सकेंगे। छन्द, भाव, भाषा, कविशिल्प सभी का उद्गम हिन्दी के लिए अपभ्रंश से हुआ है। प्राकृत, पाली, संस्कृत के युगों और साहित्य में सर्वथा अज्ञात दोहा, चौपाई जैसे छन्द केवल अपभ्रंश में पहले-पहल देखे जाते हैं और बहुत प्रचुर मात्रा में तुलसीकृत रामायण से भी बड़े-बड़े रामायण और महाभारत महाकवि

स्वयंभू ने अपभ्रंश में लिखे है, जो तुलसीदास और सबलसिंह के रामायण और महाभारत की तरह ही दोहा और चौपाइयों मे हैं।

भाषा मे प्राकृत और हिन्दी के बीच की जोड़ने वाली कड़ी यही सिद्धों की भाषा अपभ्रंश है। यदि एक ओर उसके क्रियापद अवधी और ब्रज के बिल्कुल नजदीक आ जाते हैं, तो दूसरी तरफ तद्भव शब्दों के प्रयोग करने में वह प्राकृत से एकता रखती है। वस्तुतः अपभ्रंश समझने में हमें जो कठिनाई होती है, वह इन्हीं (अपभ्रंश तथा प्राकृत के) तद्भव शब्दों के कारण ही। जैसे ही हम इन तद्भव शब्दों का तत्सम बना देते हैं, वैसे ही हमारे लिए अपभ्रंश ब्रज और अवधी की तरह सुगम हो जाती है।

भाषा का असली ढाचा सुबन्त और तिगन्त (विभक्तियों और क्रियापदों) पर निर्भर करता है। अपभ्रंश अपने व्याकरण के विषय मे प्राकृत से बहुत भिन्न और अवधी-ब्रज के नजदीक है। संस्कृत, पाली, प्राकृत के शब्द रूप और धातु रूप कुछ भेद और सरलीकरण के साथ एक-दूसरे के बहुत सन्निकट हैं, जब कि अपभ्रंश उनसे इस विषय में बिल्कुल दूर होकर आजकल की भाषाओं की पंक्ति में आ बैठती है।

अपभ्रंश के स्वनाम-धन्य कवियों में हम सरहपा, शबरपा, स्वयंभू, लुईपा, कण्हपा, गोरक्षपा (गोरखनाथ), पुष्पदन्त, शातिपा, अब्दुर्रहमान, बब्बर, कनकामर, हेमचन्द्र जैसों का नाम पाते हैं। इनकी अनमोल कविताओं का दिग्दर्शन मैंने अपनी हिन्दी काव्यधारा मे किया है। भाषा और उसका साहित्य धारा के रूप में चलता है, फर्क इतना ही है कि नदी को हम देश की पृष्ठभूमि मे देखते हैं, जब कि भाषा देश और भूमि दोनों की पृष्ठभूमि को लिये आगे बढ़ती है—कालक्रम के अनुसार देखने पर ही हमें उसका विकास अधिक सुस्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होता है। ऋग्वेद से लेकर १९वीं सदी के अन्त तक की धारा को समझने के लिए उन-उन भाषाओं की गद्य-धारा और काव्य-धारा के संग्रहों की आवश्यकता है। मैंने केवल विस्मृत, अज्ञात अपभ्रंश काव्य-धारा को ही अपनी हिन्दी काव्यधारा मे संग्रहीत कर दिया है। अपभ्रंश के गद्य भी जैन-भंडारों मे तत्कालीन व्रत-कथाओं के रूप मे मौजूद हैं, जिसके भी काल-क्रम से संग्रह करने की आवश्यकता है।

इसी तरह सस्कृत-काव्यधारा, संस्कृत-गद्यधारा, पाली-काव्यधारा, पाली-गद्यधारा, प्राकृत-काव्यधारा, प्राकृत-गद्यधारा, हिन्दी-आदि-काव्यधारा, हिन्दी-आदि-गद्यधारा, हिन्दी-महाकविधारा (सूर-तुलसीदास के समय की), हिन्दी-रीतिकालीन-काव्यधारा और हिन्दी-रीतिकालीन-गद्यधारा के सग्रहों की अत्यन्त आवश्यकता है। भारत और विदेश के भिन्न-भिन्न पुस्तकालयों मे बिखरे तथा बहुत कुछ अप्रकाशित साहित्य को पढ़ना सभी पाठकों के बस की बात नहीं है।

फिर महासमुद्र में से मोतियों का चुनना तो और भी कठिन काम है। इसलिए संग्रहों के सम्पादन में बहुत विवेक की आवश्यकता है : संक्षिप्त हो, किन्तु सार छूटने न पाये। संग्रह मे मूल भाषा का होना अनिवार्य है, लेकिन साधारण पाठकों की सुगमता के लिए साथ में उसका अनुवाद भी ऐसा हो, जिसमें कवि के प्रति न्याय हो सके। ऐसा काम कवि ही कर सकते है। मूल और अनुवाद आमने-सामने के पृष्ठों पर हो, तो और अच्छा।

अन्त में अपभ्रंश भारती के प्रथम और अमर कवि सरहपा के कुछ दोहों को देकर हम अपने लेख को समाप्त करते हैं :

बम्हणहि म जाणन्त हि भेउ। एंवइ पढ़िअउ ए चउबेउ ॥१॥
मट्टि-पाणि कुस लई पढन्त। घरहीं बइसी अग्गि हुणन्त ॥
कज्जे विरहइ हुअवह होमें। अक्खि डहाविअ कडुएं धूएं ॥२॥

छाया अनुवाद

ब्राह्मणहि ना जानन्ता भेद। यों ही पढेउ ये चारो वेद ॥१॥
माटि पानि कुश लिये पढन्त। घरही बइठी अग्नि होमन्त ॥
कार्य बिना ही हुतवह होमे। आखि डहावे कडुवे धूये ॥२॥

खाअन्त पिअन्ते सुहहिं रमन्ते। णित्त पुण्णु चक्का'वि भरन्ते ॥
अइस धम्म सिज्झइ परलोअह। णाह पाए दलोउ भअलोअह ॥२४॥

छाया अनुवाद

खाते पीते सुखहि रमन्ते। नित्य पूर्ण चक्रहू भरन्ते ॥
अइस धर्म सिध्यइ परलोका। नाथ पाइ दलिया भयलोका ॥२४॥

एत्थु सें सुरसरि जमुणा, एत्थ सें गंगा साअरु।
एत्थु पआग बणारसि, एत्थु से चन्द-दिवाअरु ॥४७॥
खेत्तु-पीठ-उपपीठ, एत्थु मइं भमइ परिट्ठओं।
देहा-सरिसअ तित्थ, मइं सुह अण्ण ण दिट्ठओं ॥४८॥

छाया अनुवाद

एहिं सो सुरसरि जमुना, एहिं सो गंगासागर।
एहिं प्रयाग वाराणसी, एहिं सो चंद्र-दिवाकर ॥४७॥
क्षेत्र-पीठ-उपपीठ, एही मैं भ्रमउ बाहिरा।
देहा सदृशा तीर्थ, नही मैं अन्यहि देखा ॥४८॥

सरहपाद ने वह गीति-परम्परा साहित्य में चलायी, जिसका प्रचार आज तक चला जाता है। राग गुजरी (गुर्जरी) में उनका एक गीत देखिए :

अपणे रचि रचि भव निब्बाणा, मिच्छें लोअ बधावइ अपणा।
अक्खें ण जाणहु अचिन्त जोई, जाम-मरण भव कइसन होई ॥
जइसो जाम-मरण वी तइसो, जीवंतें मइलें णाहि विशेशो।
जा एथु जामा-मरणे विशंका, सों करउ रस-रसानें रे कंखा ॥
जो सचराचर तिअस ममन्ति। जे अजरामर किम्प न होन्ति।
जामे काम कि कामे जाम। सरह भणइ अचिन्त सो धाम ॥२॥

छाया अनुवाद

अपने रचि-रचि भव-निर्वाणा, मिथ्यै लोक वधावै अपना।
मैं ना जानहुं अचिन्त योगी, जन्म मरण भव कैसन होई ॥
जैसो जन्म-मरणहु तैसो, जीवन-मरणे नाहिं विशेषो।
जो यह जन्म-मरण वीशंका, सो कर स्वर्ण-रसायन कांछा ॥
जो सचराचर त्रिदश भ्रमन्ति, ते अजरामर किमि ना होति।
जन्महिं कर्म कि कर्महि जन्म, सरह भनै अचित सो धर्म ॥२॥

महाकवि स्वयंभू

महाकवि स्वयंभू के महत्व को समझने के लिए यह जान लेना जरूरी है कि छठी से बारहवी सदी तक भारत की सर्वोपरि भाषा—राजनीतिक, सांस्कृतिक दोनो दृष्टियो से—अपभ्रंश के सर्वश्रेष्ठ कवि स्वयंभू थे। पिछली दो-तीन शताब्दियों से अपभ्रंश विस्मृत हो गयी थी। वर्तमान शताब्दी के आरम्भ में एक तरह इस भाषा का आविष्कार हुआ, जब पहले-पहल प्राचीन जैन-भंडारों से मिली पुस्तक का सम्पादन याकोबी ने किया, और म. म. हरप्रसाद शास्त्री ने सिद्धों के दोहों और गीतों को नेपाल में प्राप्त कर बौद्ध गान ओ दोहा के नाम से प्रकाशित किया। अभी भी ऐसे कूपमंडूको का अभाव नही है, जो हमारी हिन्दी तथा दूसरी भारतीय आर्य भाषाओं की साक्षात् जननी संस्कृत को मानने के लिए तैयार हैं। पर, दिन पर दिन ऐसो की संख्या कम होती जा रही है।

वर्तमान शिष्ट संस्कृत, पाणिनि "भाषा" कहते हैं, कभी बोलचाल की भाषा नहीं रही। बोलचाल की भाषा वह संस्कृत थी, जिसे पाणिनि "छान्दस्" कहते हैं, और जो थोड़े से परिवर्तित रूप में वेद की संहिताओं और ब्राह्मणो के रूप में हमारे पास मौजूद है। इसका समय प्रायः ईसा पूर्व १५वी सदी से ७वीं सदी ईसा पूर्व था। तथाकथित "भाषा" संस्कृत के निर्माण का समय "छान्दस्" काल के बाद आया और उसके सुव्यवस्थित करने का अन्तिम प्रयत्न पाणिनि ने ईसा पूर्व चौथी सदी मे किया।

बुद्ध और महावीर के समय के करीब छान्दस् संस्कृत से उद्भूत उन भाषाओं का प्रचलन हुआ, जिनका सामूहिक नाम 'पालि' कहा जाता है। पालियों का समय भी छह शताब्दियों—ईसा पूर्व छठी से प्रथम शताब्दी—का था। इसका साहित्यिक रूप हमे पालि-त्रिपिटक मे मिलता है, और बोलचाल का रूप अशोक और खारवेल के शिलालेखों मे। भाषाओ, विशेषतः लोक-भाषाओं का क्षेत्र, उनके रूपों की तरह सदा एक-सा नही रहा। मानव हमेशा जंगम प्राणी रहा है, "चरैवेति" उसका जीवन मंत्र रहा है। एक भाषा-क्षेत्र में दूसरी भाषा बोलने वाले लाखो की संख्या में आज के पंजाबी शरणार्थियों की तरह पहले भी आते रहे। कभी वे अपनी भाषा छोड़ स्थानीय भाषा अपनाने के लिए बाध्य होते रहे, कभी उनकी भाषा ही हावी होने मे सफल होती रही। इसीलिए हम यह नही कह सकते कि आज की हमारी भाषाएं—मैथिली, मगही, भोजपुरी,

अवधी, वघेली, छत्तीसगढी, कनउजी, व्रज, बुन्देली, मालवी, राजस्थानी, कौरवी, पंजाबी, डोगरी, कांगड़ी, चम्बियाली, कुलुई, कोची, गढ़वाली, कुमाऊनी, नेपाली, अथवा असमिया, वंगला, उड़िया, मराठी, गुजराती—तत् तत् स्थानों में बोली जाने वाली की साक्षात् पनातिनें हैं।

नदी की धार की तरह भाषाओं का रास्ता भी वहुत टेढा-मेढ़ा होता है। मागधी, कोसली, सौरसेनी, कौरवी, वाहीकी आदि पालियों का स्थान उनकी पुत्रियों—मागधी, कोसली, सौरसेनी, कौरवी आदि प्राकृतों—ने ईसवी सदी के आरम्भ में लिया, और प्रायः छह सदियों तक वह फलती-फूलती रही। आज हमारे हिन्दी क्षेत्र में २० भाषाए मातृभाषा के रूप मे बोली जाती हैं, पर मुद्रण युग के सारे सुभीतो के रहते भी अभी उनमे बहुत कम के ही साहित्य-भडार को लिपिवद्ध होने का अवसर मिला है; जो हुआ भी है, उसका ज्ञान उनके वोलने वालों की भी नही के बरावर है।

यही बात यदि भिन्न-भिन्न पालियो और प्राकृतों पर घटी, तो आश्चर्य क्या ? पालियों में केवल मागधी प्राकृत के नमूने हमारे पास हैं। प्राकृतों में मागधी, अर्धमागधी (कोसली), सौरसेनी, महाराष्ट्री, पैशाची को ही हम देख सकते है। इसमें शक नही कि प्राकृत काल मे हिन्दी क्षेत्र की सभी २० भाषाएं अपने प्राकृत रूप में मौजूद थी।

सौरसेनी और मागधी को प्रधानता इसलिए मिली, क्योंकि ईसा की प्रथम तीन सदियों में सूरसेन की महानगरी मथुरा, और उसके वाद की दो-ढाई सदियों में मगध और उसकी राजधानी पाटलिपुत्र (पटना), सारे भारत के महान राजनीतिक और सास्कृतिक केन्द्र रहे। यही की प्राकृतें भारतव्यापी ही नही, वृहत्तर भारतव्यापी राष्ट्रभाषाएं थी।

अपभ्रंश : प्रायः छठी सदी से वारहवी सदी के अन्त तक भारत में अनेक स्थानीय अपभ्रंश भाषाएं प्रचलित थीं। प्राकृतचंद्रिका, प्राकृतसर्वस्व और कुवलयमाला के अनुसार देश मे निम्न अपभ्रंशें बोली जाती थी :

नाम	वर्तमान पुत्रियां	नाम	वर्तमान पुत्रियां
१. अन्तर्वेदी	कनउजी या अवधी	६. कैकेयी	लंहडा (हिन्दकी)
२. आभीरी	खानदेशी (मराठी)	७. कोसली	अवधी
३. आवन्ती	मालवी	८. गुर्जरी	गुजराती
४. औड्री	उड़िया	९. गौडी (गोल्ली)	वंगला, असमिया
५. कीरी	चम्बियाली	१०. टक्की	

११. नागरी		१७. महाराष्ट्री	मराठी, कोंकणी
१२. पांचाली	कनउजी	१८. मागधी	मगही, मैथिली, भोजपुरी
१३. पाश्चात्या	पंजाबी	मालवी	मालवी
१४ बर्बरी		लाटी	गुजराती
१५. ब्राचडी		वैदर्भी	मराठी
मध्यदेशीया	कनउजी	१९. सिन्धी	सिन्धी, मुल्तानी
१६. मरुदेशी	*राजस्थानी (मारवाड़ी)*	२०. *सैंहली*	*सिंहाली*

हिन्दी क्षेत्र की वर्तमान भाषाओं की तुलना करने से अपभ्रंशों के साथ निम्न संबंध मालूम होता है :

	अपभ्रंश		अपभ्रंश
१. मैथिली	मागधी	१२. कौरवी	मध्यदेशीया (?)
२. मगही	"	१३. पंजाबी	पाश्चात्या, कैकेयी
३. भोजपुरी	"	१४. डोगरी	" "
४. अवधी	कोसली	१५. कांगडी	" "
५. बघेली	"	१६ चम्बियाली	कीरी (खश)
६. छत्तीसगढी	"	१७ कुलुई	" "
७. कनउजी	मध्यदेशीया, या पांचाली	१८. कोची	" "
८. ब्रज	" या नागरी	१९. गढवाली	" "
९. बुन्देली	" "	२०. कुमाऊनी	" "
१०. मालवी	मालवी (आवन्ती)	२१. नैपाली (गोरखाली)	" "
११. राजस्थानी	मरुदेशी, टक्की, ब्राचडी		

अपभ्रंश के महान कवि स्वयंभू (रामयण, हिन्दी काव्यधारा, पृष्ठ ५३,७२) और पुष्पदन्त (आदिपुराण, हिन्दी काव्यधारा, पृष्ठ १८८) समकालीन देशों के नाम देते हैं, जिनकी भाषा, कुछ को छोड़ कर, स्थानीय अपभ्रंश थी। अपभ्रंश भिन्न भाषा वाले देश निम्न थे :

देश	वर्तमान भाषा	देश	वर्तमान भाषा
१. एलकुल		४. कांची	तमिल
२. कण्णाड (कर्नाट)	कन्नड	५. काविलीय	पश्तो
३. कलिंग	तेलुगू	६. कन्धार (काहार)	"

७. केरल	मलयालम्	१७. पह्लिय	
८. कैलास	तिब्बती	१८. पल्लव (कांची)	तमिल
९. गन्धार	पश्तो	१९ पडिय (पांड्य)	तमिल
१०. चेर	मलयालम्	२०. पारस	पारसी
११. चोड़	तमिल	२१. पुण्णाड	कन्नड (?)
१२. जवण (यवन)	अरबी	२२. भोट	तिब्बती
१३. ताजिक	अरबी या पारसी	२३. मलय	मलाई
१४. तुग	तेलुगू (?)	२४. शक	
१५. द्रविड	तमिल	२५. श्रीपर्वत	तेलुगू
१६. नैपाल	नेवारी	२६. हरिकुरु	

अपभ्रंश-भाषी प्रदेश निम्न थे :

देश	वर्तमान भाषा	देश	वर्तमान भाषा
१. अंग	मैथिली	२०. गुज्जर (गुर्जर)	गुजराती
२. आनर्त	गुजराती	२१. चेदी	बुन्देली
३. आभीर (खानदेश)	मराठी	२२. जट्ट	कौरवी
४. उज्जैन	मालवी	२३. जादव	ब्रज, मराठी
५. उड्ड, ओड्डियान	ओडिया	२४. जालंधर	पंजाबी
६. उशीनर	लंहदी	२५. टक्क	राजस्थानी (?)
७. कच्छ	कच्छी	२६. दक्षिणदेश	मराठी
८. कनउज्ज (मध्यदेश)	कनउजी	२७. द्वारावती	गुजराती
९. करहाट	मालवी (?)	२८. पच्छिमदेस	पंजाबी
१०. कश्मीर	कश्मीरी	२९. पचाल	कनउजी
११. कामरूप	असमिया	३०. पुण्ड्र	बंगला
१२. काशिय	भोजपुरी	३१. पारियात्र	मालवी
१३. कीर	चम्बियाली	३२. बब्बर (बर्बर)	
१४. कुरु	कौरवी (हिन्दी)	३३. बच्छ (वत्स)	अवधी
१५. कोंकण	कोंकणी (मराठी)	३४. मंगल (भागलपुर)	मैथिली
१६. कोसल	अवधी	३५. मगह (मगध)	मगही
१७. खस	कुलुई, कोची, गढवाली ? कुमाऊनी, नैपाली	३६. मद्र (माझा)	पंजाबी
		३७. मध्यदेश (कनउज)	कनउजी
१८. गउड (गौड)	बंगला	३८. मरहट्ट	मराठी
१९. गंगा	„	३९. मरु (मारवाड़)	राजस्थानी

ईशान की कोई कृति हमारे पास तक नहीं पहुंची है। जिनकी वाणी से हम परिचित हैं, उनमे सबसे पुराने सरहपाद हैं, जो आठवीं सदी के मध्य में मौजूद थे।

उसी सदी के अन्त में स्वयंभू दो-दो महाकाव्यों के रचयिता के रूप में हमारे सामने आते हैं। स्वयभू के अपने आश्रयदाता राजश्रेष्ठी (रयडा) धनंजय थे, जो ध्रुवराय राज्य मे सम्मानित श्रेष्ठीपद पर अवस्थित थे। राष्ट्रकूट वंश मे कई ध्रुवराय थे, जो सभी ७८०-८६७ ई. के बीच में हुए थे। इनमे दो गुर्जर शाखा मे हुए, इसलिए ध्रुव धारावर्ष (७८०-९४ ई.) ही स्वयंभू का समकालीन मालूम होता है। यह ध्रुव अपनी विजयपताका फहराता कनौज तक आया था।

स्वयंभू के पिता का नाम माउरदेव (मयूरदेव) और माता का नाम पद्मिनी था। इनकी पत्नी का नाम आदित्य देवी था, जो पति के काम में भी सहायिका थी। यह स्वयभू के पउमचरिउ (रामायण) के निम्न वाक्य से मालूम होता है :

आइच्चएवि पडिमोवमाए, आइच्च नामा ए।
बीअम उज्झा-कंडं सयंभु-घरिणीएं लेहावियं।

स्वयंभू की घरिणी ने अयोध्या काड को लिपिबद्ध किया, या करवाया था। स्वयभू के पुत्र त्रिभुवन स्वयभू भी कवि थे। उन्होंने अनावश्यक होने पर भी ९२ संधि वाली अपने पिता की रामायण में १६ संधियां और जोड़ी।

१२००० श्लोकों के बराबर रामायण के अतिरिक्त स्वयंभू ने महाभारत (हरिवंशपुराण) को भी लिखा। इन दोनों के अतिरिक्त उनके स्वयंभूछन्द का भी कितना ही अंश प्राप्त हो चुका है। रामायण (पउमचरिउ) भारतीय विद्या-भवन (बम्बई) से प्रकाशित हो चुकी है। महाभारत (हरिवंश) को भी शीघ्र प्रकाश मे आना चाहिए।

बारह हजार श्लोकों और ९२ संधियों (सर्गों) मे समाप्त रामायण (पउमचरिउ) छः वर्ष तीन मास और ग्यारह दिन मे लिखी गयी थी :

छब्बरिसाई तिमासा एयारस वासरा सयंभुस्स।
बाणवइ संधि करणे वोलिणो इत्तिओ कालो॥

ग्यारहवें महीने की दसमी मूल नक्षत्र, रविवार को उत्तरकाड, अर्थात् सारी रामायण समाप्त हुई :

दियहाहियस्स वारे दसमी दियहम्मि मूल णक्खत्ते
एयारसम्मि चंदे उत्तरकंडं समाढत्तं।

४०. मारवणि	राजस्थानी	४५. विदेह	मैथिली
४१. मालव (उज्जैन)	मालवी	४६. सुरट्ठ (सौराष्ट्र)	गुजराती
४२. जोहेअ (यौधेय)	कौरवी	४७. सिंहल (लंका)	सिंहली
४३. रोहण	सिंहली (?)	४८. सिंधव	सिन्धी
४४. लाट	गुजराती	४९. सूरसेन	व्रज

भारत के बहुत बडे भाग पर जब बारहवी सदी के अन्त और तेरहवी सदी के मध्य तक मुस्लिम शासन स्थापित हो गया, उस समय हमारी बोल-चाल की भाषाएं अपभ्रंश थी। इसका प्रमाण हमे तेरहवी सदी के फारसी इतिहास लेखकों की कृतियों मे मिलता है, जो पीछे के इतिहास ग्रंथों में प्रचलित राजपूत शब्द के लिए रावुत या राउत्त का प्रयोग करते हैं, जो निश्चय ही राज-उत्त राउत्त का रूप है।

अपभ्रंश काल (५६०-१२०० ई) में बहुत सी स्थानीय भाषाए प्रचलित थी, भारतीय आर्य भाषाओं के क्षेत्र मे इनके अतिरिक्त द्रविड़ भाषाएं—तेलुगू, तमिल, मलयालम्, कन्नड—भी देश के एक बड़े भाग मे बोली जाती थीं। आज की तरह उस समय भी सारे देश की एक सम्मिलित भाषा की अत्यन्त आवश्यकता थी। संस्कृत हमारे पांडित्य की भाषा थी, इसमें सदेह नही, पर संस्कृतज्ञों की संख्या हमेशा सीमित रही। साधारण व्यापारियों और तीर्थ-यात्रियों की वह भाषा नहीं थी। हमारे देश में लोग हर समय सबसे बडे राजनीतिक और सास्कृतिक केन्द्र की भाषा को अखिल भारतीय भाषा के तौर पर स्वीकार करते रहे हैं। पालियो के काल में मागधी पाली, प्राकृतों के काल में पहले सौरसेनी फिर मागधी प्राकृत वैसी भाषा मानी गयी। अपभ्रंश काल मे यही स्थान कान्यकुब्ज (कनउज) की मध्यदेशीया अपभ्रंश को मिला। वह लोक-व्यवहार की ही नही, साहित्य की भी भाषा स्वीकृत हुई। आज तक जितने अपभ्रंश के ग्रंथ या फुटकर कृतिया मिली है, उनकी भाषा में जबर्दस्त समानता है। बौद्ध चौरासी सिद्धों में अधिकांश मागधी-गौड़ी-औड़ी अपभ्रंशों के क्षेत्र के थे, जैन कवि प्राय: महाराष्ट्री-गुर्जरी-मरुदेशी-मध्यदेशीया अपभ्रंशों के क्षेत्र के थे। संदेशरासक का कर्ता अब्दुर्रहमान मुल्तान, अर्थात् सिंधी अपभ्रंश क्षेत्र का था। उन्होने यदि अपनी-अपनी अपभ्रंशों मे रचना की होती, तो वह समानता भाषा में कभी नहीं मिल सकती थी, जो कि सरह, स्वयंभू और अब्दुर्रहमान की भाषा मे मिलती है।

अपभ्रंश के सर्वप्रथम कवि ईशान का उल्लेख बाण (सातवीं सदी का पूर्वार्ध) ने किया है। प्राकृत कवि से अलग अपने मित्र ईशान का नाम भाषा-कविरीशानः उल्लेख बतलाता है कि भाषा से बाण का मतलब अपभ्रंश भाषा से है। पीछे के एक अपभ्रंश कवि ने भी ईशान का उल्लेख किया है, पर

ईशान की कोई कृति हमारे पास तक नहीं पहुंची है। जिनकी वाणी से हम परिचित हैं, उनमें सबसे पुराने सरहपाद हैं, जो आठवीं सदी के मध्य में मौजूद थे।

उसी सदी के अन्त में स्वयंभू दो-दो महाकाव्यों के रचयिता के रूप में हमारे सामने आते है। स्वयभू के अपने आश्रयदाता राजश्रेष्ठी (रयड्डा) धनंजय थे, जो ध्रुवराय राज्य मे सम्मानित श्रेष्ठीपद पर अवस्थित थे। राष्ट्रकूट वंश मे कई ध्रुवराय थे, जो सभी ७८०-८६७ ई. के बीच में हुए थे। इनमे दो गुर्जर शाखा में हुए, इसलिए ध्रुव धारावर्ष (७८०-९४ ई.) ही स्वयंभू का समकालीन मालूम होता है। यह ध्रुव अपनी विजयपताका फहराता कनौज तक आया था।

स्वयंभू के पिता का नाम माउरदेव (मयूरदेव) और माता का नाम पद्मिनी था। इनकी पत्नी का नाम आदित्य देवी था, जो पति के काम मे भी सहायिका थी। यह स्वयंभू के पउमचरिउ (रामायण) के निम्न वाक्य से मालूम होता है :

आइच्चएवि पडिमोवमाए, आइच्च नामा ए।
बीअम उज्झा-कंडं सयंभु-घरिणीएं लेहावियं।

स्वयंभू की घरिणी ने अयोध्या काड को लिपिबद्ध किया, या करवाया था। स्वयंभू के पुत्र त्रिभुवन स्वयभू भी कवि थे। उन्होंने अनावश्यक होने पर भी ९२ संधि वाली अपने पिता की रामायण मे १६ संधियां और जोड़ीं।

१२००० श्लोकों के बराबर रामायण के अतिरिक्त स्वयभू ने महाभारत (हरिवंशपुराण) को भी लिखा। इन दोनों के अतिरिक्त उनके स्वयंभूछन्द का भी कितना ही अंश प्राप्त हो चुका है। रामायण (पउमचरिउ) भारतीय विद्या-भवन (बम्बई) से प्रकाशित हो चुकी है। महाभारत (हरिवंश) को भी शीघ्र प्रकाश मे आना चाहिए।

बारह हजार श्लोकों और ९२ संधियों (सर्गों) मे समाप्त रामायण (पउमचरिउ) छः वर्ष तीन मास और ग्यारह दिन में लिखी गयी थी :

छव्वरिसाइं तिमासा एयारस वासरा सयंभुस्स।
वाणवइ संधि करणे वोलिणो इत्तिओ कालो॥

ग्यारहवें महीने की दसमी मूल नक्षत्र, रविवार को उत्तरकांड, अर्थात् सारी रामायण समाप्त हुई :

दियहाहियस्स वारे दसमी दियहम्मि मूल णक्खत्ते
एयारसम्मि चंदे उत्तरकंडं समाढत्तं।

दुर्भाग्य से स्वयंभू ने यहां संवत् का उल्लेख नहीं किया है, इसलिए काल निश्चित करना कठिन है।

गोस्वामीजी ने रामचरितमानस के आरम्भ करने के काल और स्थान का निर्देश किया है पर समाप्ति की तिथि नहीं दी। रचनारम्भ के बारे में कहा है :

> संवत् सोरह सै एकतीसा। करउं कथा हरिपद धरि सीसा।
> नौमी, भौम वार मधु मासा। अवधपुरी यह चरित प्रकासा।
>
> (बालकांड, ३४)

अर्थात्, अकबर के १८वें सनजलूस (१५७४ ई.) में गोस्वामीजी ने अपनी अमर कृति का आरम्भ किया। उसके बाद ४९ वर्ष तक वह जिये, अर्थात् तरुणाई ही में उन्होंने इस महान ग्रंथ का निर्माण किया।

स्वयंभू और तुलसी, दोनों महान कवियों की कृतियों में कितनी ही बातों में समानता है। पर, इसका यह अर्थ नहीं कि गोसाईंजी ने अपने पूर्वज अपभ्रंश कवि की चीजें चुपचाप ले ली हैं। गोसाईंजी ने अपनी कथा और प्रसंग अध्यात्मरामायण से लिया है, पर वह कविता में बिल्कुल स्वतंत्र हैं। अपने पूर्वजों के ऋण को वह स्वीकार करते हैं। बहुत संभव है, उन्होंने स्वयंभू की रामायण को देखा था। वह उस समय प्रचलित थी, यह तो इसी से मालूम होगा कि इसकी सबसे पुरानी प्रति (भंडारकर इस्टीच्यूट) संवत् १६२१ (ई. १५६४) जेठ सुदी १० बुधवार को गोपाचल (ग्वालियर) में लिखी गयी, अर्थात् रामचरितमानस आरम्भ करने से दस वर्ष पहले। शायद अपने रामचरितमानस के स्रोतों के बारे में लिखते "नानापुराणनिगमागमसम्मतं यद् रामायणे निगदितं क्वचिदन्यतोऽपि" में कहीं अन्यत्र से इसी रामायण की ओर संकेत है। आखिर पुराण, निगम, आगम के बाद रामायण संबंधी ब्राह्मण साहित्य बच क्या रहता है? इतने ही से सन्तोष न करके वह प्राकृत (अपभ्रंश) कवियों के प्रति कृतज्ञता प्रकट करते हैं :

> कलि के कबिन्ह करउं परनामा। जिन्ह बरने रघुपति गुनग्रामा।
> जे प्राकृत कवि परम सयाने। भाषा जिन्ह हरिचरित बखाने।
>
> (बालकांड, १३)

प्राकृत और अपभ्रंश का फरक न करना हाल तक देखा जाता रहा है, इसलिए यहां प्राकृत कवि से अपभ्रंश ही अभिप्रेत है। संभव है, स्वयंभू के

अतिरिक्त और भी रामायण उस समय मौजूद हो। ब्राह्मण अपनी संस्कृत भिन्न कृतियों की रक्षा में उतनी तत्परता नहीं दिखलाते थे, जितने जैन और बौद्ध, यह इसी से मालूम होगा कि "प्राकृत पैंगल" जैसी एक दो कृतियों को छोड़ कर अपभ्रंश का विशाल साहित्य जैन पुस्तक भंडारों और बौद्ध अनुवादों से ही प्राप्त हुआ है। मेरे मित्र भदन्त आनंद कौसल्यायन ने स्वयंभू की ओर गोस्वामीजी के संकेत के बारे में रामचरितमानस के अन्त में आने वाले प्रथम श्लोक का उल्लेख किया :

यत्पूर्वं प्रभुणा कृतं सुकविना श्रीशंभुना दुर्गमं,
श्रीमद्रामपदाब्जभक्तिमनिशं प्राप्त्यै तु रामायणम्।

शंभु स्वयंभू का संस्कृत रूप हो सकता है। शायद शंभु और स्वयंभू के श्लेष के लिए एक शब्द लिया हो, आखिर विशेषण में प्रभु और सुकवि का प्रयोग इसी ख्याल से किया—शंभु के लिए प्रभु और स्वयंभू के लिए सुकवि। शंकर के लिए सुकवि का प्रयोग बेकार होगा, यह कहने की आवश्यकता नहीं। गोस्वामीजी पर नकल करने का आक्षेप कभी नहीं किया जा सकता, पर स्वयंभू की कृति ने प्रेरणा दी, इसे मानने मे कोई हर्ज नही। ऐसी कृतियों के अभ्यास का ही परिणाम है—कहीं-कही दोनों कृतियों में आपाततः समानता। इसके कुछ उदाहरण लीजिए :

आत्म-निवेदन

स्वयंभू : बुहयण सयंभु पइं विण्णवइ। महु सरिसउ अण्ण णाहि कुकइ।
वायरणु कयाइ ण जाणियउ। णउ वित्ति-सुत्त वक्खाणियउ।
णा णिसुणिउ पंच महाय कव्वु। णउ भरहु ण लक्खणु छंदु सव्वु।
णउ बुज्झिउ पिंगल-पच्छारु। णउ भामह-दंडिय'लंकारु।
हउं कि वि ण जाणमि मुक्ख मणे। णिय बुद्धि पयासिय तो वि जणे।
ज सयलॅवि तिहुवणें वित्थरिउ। आरंभिउ पुणु राहव-चरिउ।
(रामायण १. ३, २३. १.)

तुलसी : कवि न होउं नहिं वचन प्रबीना। सकल कला सब विद्याहीना।
आखर अरथ अलंकृति नाना। छन्द प्रबन्ध अनेक विधाना।
भाव भेद रस भेद अपारा। कबित दोष-गुन बिबिध प्रकारा।
कबित बिबेक-एक नहिं मोरे। सत्य कहउं लिखि कागद कोरे।
(बालकांड, ९.)

पुनः स्वयंभू : देसीमासा उभय तड़ुज्जल । कवि दुक्कर घण सद्द सिलायल ।
रामकहा सरि एंह सोंहंती । (रामायण, १)

तुलसी : भाषा बद्ध करबि मैं सोई । मोरे मन प्रबोध जेहि होई ।
रामकथा मन्दाकिनी, चित्रकूट चित चारु ।
तुलसी सुभग सनेह् बन, सिय रघुबीर विहारु । (बालकांड, ३१.)

स्वयंभू ने जिसे रामकथासरित् कहा, उसी को तुलसी ने रामकथामन्दाकिनी बतलाया । जन्मभूमि अयोध्या के लिए दोनों महाकवियों के उद्गार एक से हैं :

स्वयंभू : धुवन्त धवल-धय वड-पउरु । पिय पेक्खु अउज्झाउरि णयरु ।
किर जम्मभूमि जणणीय सम... (रामायण, ७८. २०)

तुलसी : जन्मभूमि मम पुरी सुहावनि । उत्तर दिसि वह सरजू पावनि ।
अति प्रिय मोहि इहाके वासी । (*उत्तरकांड,* ४.)

नगरवर्णन स्वयंभू की कृतियों मे अनेक वार आया, तुलसी ने भी नगरो का चित्रण किया है । कही-कही दोनो के वर्णन मे समानता भी देखी जाती है—

स्वयंभू : चउ दुवारु जउ गोअरु चउ पायारु पंडरं ।
गयण लग्ग पवणाहय धयमालाउरं पुरं । (रामायण ४६. १.)
जहि पफुल्लियाइं उज्जाणइ...
जहि ण कयावि तलायइ सुक्कइ ।
जहिं मंदिरइं स-तोरणवारइं । (रामायण, ४७. १.)

तुलसी : बनइ न बरनत नगर निकाई । जहा जाइ मन तहंइ लोभाई ।
चारु बजारु *बिचित्र अबारी । मनिमय बिधि* जनु स्वकर सवारी ।
चौहट सुदर गली सुहाई । संतत रहहिं सुगध सिंचाई ।
मगलमय मदिर सब केरे । चित्रित जनु रतिनाथ चितेरे ।
(बालकाड, २१३.)

कनक कोट विचित्र मनि कृत सुंदरायतना घना ।
चउहट्ट हट्ट सुबट्ट वीथी चारु पुर बहु बिधि बना ।
बन बाग उपबन बाटिका सरकूप वापी सोहहीं । (सुन्दरकाड, १.)

सकल देखाये जानकिहिं कहे सबन्हि के नाम ।
तुरत बिमान तहां चलि आवा । दंडक बन जंह परम सुहावा ।
चित्रकूट आये जगदीसा ।
बहुरि राम जानकिहि देखाई । जमुना कलिमल हरनि सुहाई ।
पुनि देखी सुरसरी पुनीता । राम कहा प्रनाम करु सीता ।
तीरथपति पुनि देखु प्रयागा । निरखत जन्म कोटि अघ भागा ।
देखु परम पावनि पुनि बेनी । हरनि सोक हरि लोक निसेनी ।
पुनि देखु अवधपुरी अति पावनि ।

(लंकाकांड, ११६, १२०)

मन्दोदरि ने पति के मरने पर जो विलाप किया, उसका चित्रण दोनों ने किया है, जैसे :

स्वयंभू: रोवइ लंकापुर-परमेसरि । हा रावण ! तिहुयण-जण-केसरि ।
पइ विणु समर तुरु-कहो वज्जइ । पइ विणु बालकील कहो छज्जइ ।
पइ विणु णवगह-एक्कीकरणउ । को परिहेसइ कंठाहरणउ ।
पइ विणु को विज्जा आराहइ । पइं विणु चंद-हासु को साहइ ।
को गंधव्व-वापि आडोहइ । कण्णहो छवि-सहासु संखोहइ ।
पइ विणु को कुबेरु भंजेसइ । तिजग-विहूसणु कहो वसे होसइ ।
पइ विणु को जमु विणिवारेसइ । को कइलासु' द्धरणु करेसइ ।

(रामायण, ७६-४-११)

तुलसी : "पति सिर देखत मंदोदरी । मुरुछित विकल धरनि खसि परी ।
तव बल नाथ डोल नित धरनी । तेजहीन पावक ससि तरनी ।
सेष कमठ सहि सकहिं न भारा । सो तनु भूमि परेउ भरि छारा ।
बरुन कुबेर सुरेस समीरा । रन सन्मुख धरि काहुं न धीरा ।
भुजबल जितेहु काल जम साईं । आजु परेहु अनाथ की नाईं ।

राम के अयोध्या लौटने पर भरत के साथ मिलाप का चित्र स्वयंभू ने निम्न प्रकार खींचा है :

रामागमणे भरहु णीसरियउ । हय-गय-रह-णरिंद-परियरिउ ।
अण्णो तहि सत्तुहणु स-वाहणु । स-रह सु-सालंकारु सु-साहणु ।
जिह रामहो तिह णमिउ कुमारहो । अंतेउरहो पहोलिर हारहो ।
बलेण धनुद्धरेण हक्कारेवि । सरहस णिय-भुय-दंड पसारेवि ।
अवरुंडिउ मायए घट्ठ-थारउ । मत्थए चुंमिउ पुणु सयवारउ ।

सय-वारउ उच्छंगे चडाविउ । सय-वारउ मिच्चुहु दरिसाविउ ।
सय वारउ दिण्णउ आसीसउ ।

(रामायण, ७९-१-२)

तुलसी की सरस, सरल, सुदर कविता का लोहा सारा हिन्दी जगत—पंडित, अवुध—सभी मानते है। स्वयभू को हम भूल चुके थे। उनकी कविता को देख कर पता लगता है कि तुलसी के पूर्वज भाषा-कवि एक यशस्वी परंपरा छोड़ गये थे। सातवी-आठवी सदी से मजता चला आया चौपाई और पज्झडिया छद तुलसी को विरासत मे मिला था। दोहा का लोहा सरहपाद ने अपने दोहों द्वारा मनवा लिया था, जिसे तुलसी, बिहारी आदि ने बड़ी सफलता के साथ इस्तेमाल किया।

स्वयंभू की सरस भारती

स्वयंभू ने अपने को चाहे भले ही भारी कुकवि कहा हो, पर तुलसी की तरह उनका यह कहना केवल नम्रता प्रदर्शन मात्र है। जिस तरह तुलसी हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ कवि, महाकवि है, वही बात अपभ्रंश के क्षेत्र मे स्वयंभू की है। यहा उनकी कविता के कुछ नमूने हम उपस्थित करते हैं।

स्वयभू सस्कृत और प्राकृत के परिनिष्ठित साहित्य के उत्तराधिकारी थे, तुलसी के बारे में भी वही बात कही जा सकती है। पर, उन्होंने लोक-साहित्य के नजदीक रहने की भी कोशिश की, जैसा कि उनके पूर्वगामी जायसी, कुतुवन आदि ने किया था। उन्होंने प्रकृति-वर्णन बड़ा सुन्दर किया है।

समुद्र-वर्णन

णिद्दलिय भुअंग-वितगिग मुक्कु। मुक्कंत ण वर-सायरहु ढुक्कु।
ढुक्कंतेहि वहल फुलिंग घित्त। घण सिप्पि-संख-संपुड-पलित्त।
धग-धग-धगंति मुत्ता-हलाइं। कढ़-कढ़-कढंति सायर-जलाइं।
हस-हस-हसन्ति पुलिणंतराइं। जल-जल-जलंति भुवणंतराइं।

(रामायण २७।५)

संचल्लेउ राहव साहणेण संघट्टिउ वाहणु वाहणेण।
थोवंतरे दिट्ठु महासमुद्दु। संसुयर-मयर-जलयर-रउद्दु।
मच्छोहर-णक्क-गोहु घोरु। कल्लोलावंतु तरंग-थोरु।
वेला वड्ढंतउ दुहदुहंतु। फेणुज्जल-तोय तुषार दितु।
तहो अवरे पयडउ राम-सेण्णु। णं मेह-जालु णहयले णिसण्णु।

(रामायण, ५६।६)

सकल देखाये जानकिहिं कहे सबन्हि के नाम ।
तुरत बिमान तहां चलि आवा । दंडक बन जंह परम सुहावा ।
चित्रकूट आये जगदीसा ।
बहुरि राम जानकिहि देखाई । जमुना कलिमल हरनि सुहाई ।
पुनि देखी सुरसरी पुनीता । राम कहा प्रनाम करु सीता ।
तीरथपति पुनि देखु प्रयागा । निरखत जन्म कोटि अघ भागा ।
देखु परम पावनि पुनि बेनी । हरनि सोक हरि लोक निसेनी ।
पुनि देखु अवधपुरी अति पावनि ।

(लंकाकांड, ११६, १२०)

मन्दोदरि ने पति के मरने पर जो विलाप किया, उसका चित्रण दोनों ने किया है, जैसे :

स्वयंभू: रोवइ लंकापुर-परमेसरि । हा रावण ! तिहुयण-जण-केसरि ।
पइ विणु समर तूरु-कहो वज्जइ । पइ विणु बालकील कहो छज्जइ ।
पइ विणु णवगह-एक्कीकरणउ । को परिहेसइ कंठाहरणउ ।
पइ विणु को विज्जा आराहइ । पइं विणु चंद-हासु को साहइ ।
को गंधव्व-वापि आडोहइ । कण्णहो छवि-सहासु संखोहइ ।
पइ विणु को कुवेरु भंजेसइ । तिजग-विहूसणु कहो वसे होसइ ।
पइ विणु को जमु विणिवारेसइ । को कइलासु' द्धरणु करेसइ ।

(रामायण, ७६-४-११)

तुलसी : "पति मिर देखत मंदोदरी । मुरुछित बिकल धरनि खसि परी ।
तव बल नाथ डोल नित धरनी । तेजहीन पावक ससि तरनी ।
सेष कमठ सहि सकहिं न भारा । सो तनु भूमि परेउ भरि छारा ।
बरुन कुबेर सुरेस समीरा । रन सन्मुख धरि काहुं न धीरा ।
भुजबल जितेहु काल जम साईं । आजु परेहु अनाथ की नाईं ।

राम के अयोध्या लौटने पर भरत के साथ मिलाप का चित्र स्वयंभू ने निम्न प्रकार खींचा है :

रामागमणे भरहु णीसरियउ । हय-गय-रह-णरिंद-परियरिउ ।
अग्गे तहि सत्तुहणु स-वाहणु । स-रह सु-सालंकार सु-साहणु ।
जिह रामहो तिह णमिउ कुमारहो । अंतेउरहो पहोलिर हारहो ।
पतेन वसुद्धरेण हक्कारेवि । सरहस णिय-भुय-दंड पसारेवि ।
अवरुंडिउ भायरु बहु-वारउ । मत्थए चुंबिउ पुणु मयवारउ ।

सय-वारउ उच्छंगे चडाविउ। सय-वारउ मिच्चुहु दरिसाविउ।
सय वारउ दिण्णउ आसीसउ।

(रामायण, ७९-१-२)

तुलसी की सरस, सरल, सुंदर कविता का लोहा सारा हिन्दी जगत—पंडित, अबुध—सभी मानते हैं। स्वयभू को हम भूल चुके थे। उनकी कविता को देख कर पता लगता है कि तुलसी के पूर्वज भाषा-कवि एक यशस्वी परंपरा छोड़ गये थे। सातवीं-आठवीं सदी से मंजता चला आया चौपाई और पज्झडिया छंद तुलसी को विरासत में मिला था। दोहा का लोहा सरहपाद ने अपने दोहों द्वारा मनवा लिया था, जिसे तुलसी, बिहारी आदि ने बड़ी सफलता के साथ इस्तेमाल किया।

स्वयंभू की सरस भारती

स्वयंभू ने अपने को चाहे भले ही भारी कुकवि कहा हो, पर तुलसी की तरह उनका यह कहना केवल नम्रता प्रदर्शन मात्र है। जिस तरह तुलसी हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ कवि, महाकवि हैं, वही बात अपभ्रंश के क्षेत्र में स्वयंभू की है। यहां उनकी कविता के कुछ नमूने हम उपस्थित करते हैं।

स्वयंभू संस्कृत और प्राकृत के परिनिष्ठित साहित्य के उत्तराधिकारी थे, तुलसी के बारे में भी वही बात कही जा सकती है। पर, उन्होंने लोक-साहित्य के नजदीक रहने की भी कोशिश की, जैसा कि उनके पूर्वगामी जायसी, कुतुवन आदि ने किया था। उन्होंने प्रकृति-वर्णन बड़ा सुन्दर किया है।

समुद्र-वर्णन

णिग्गलिय भुअंग-विसग्गि मुक्कु। मुक्कंत ण वर-सायरहु ढुक्कु।
ढुक्कंतेहि वहल फुलिंग घित्त। घण सिप्पि-संख-संपुड-पलित्त।
धग-धग-धगंति मुत्ता-हलाइं। कढ़-कढ़-कढंति सायर-जलाइं।
हस-हस-हसन्ति पुलिणंतराइं। जल-जल-जलंति भुवणंतराइं।

(रामायण २७।५)

संचल्लेउ राहव साहणेण संघट्टिउ वाहणु वाहणेण।
थोवंतरे दिट्ठु महासमुद्दु। संसुयर-मयर-जलयर-रउद्दु।
मच्छोहर-णक्क-गोहु घोरु। कल्लोलावत्तु तरंग-थोरु।
वेला वड्ढंतउ डुहुडुहंतु। फेणुज्जल-तोय तुयार दिंतु।
तहो अवरे पयडउ राम-सेण्णु। णं मेह-जालु णहयले णिसण्णु।

(रामायण, ५६।१६)

घत्ता । मण-गमणे हिं गयणि पयट्टे हिं, लक्खिउ लवण-समुद्द किह ।
महि-मंडयहो णह-यल-रक्खसेण, फाडे उ जठर-पयेसु जिह ।
दीसइ रयणायर रयण-वाहु । विण्हु, व सवारि छंदु' व सगाहु ।
अत्थहु सुहि'व हत्थि'व कराल । भंडारि'इव बहु-रयण-पालु ।
सुहव-पुरिसो'व्व सलोण-सीलु । सुग्गीउ'व पयडिय इंद-लीलु ।
जिण-सुव चक्कवइ'व किमय सेलु । मज्झण्हु'व उप्परि चडिय वेलु ।
तवसि'व परिपालिय समय-सार । दुज्जण पुरिसो'व्व सहाव-खार ।
णिद्धण आलाउ'व अप्पमाणु । जोइ सु'व मीण-कक्कडय-थाणु ।
महकव्व-णिबंधु'व सद्द-गहिर । चामीयर'व सइय-पीय-मयर ।
तहिं जलणिहि उलंघंतएहिं । वोहित्थइ दिट्ठइ जंतएहिं ।
सोह-वडइ लंबिय इलाइ । महरिसि चित्ताइं'व अविचलाइं ।

इसकी हिन्दी छाया :

निर्दलेउ भुजंग विसर्ग मोचु । मोचत जनु वर-सागरहिं ढूकु ।
ढूकत हि वहु स्फुलिंग क्षिप्त । घन-सीप-शंख-संपुट-प्रलिप्त ।
धग-धग-धगंत मुक्ताफला । कड-कड-कडत सागर-जला ।
हस-हस-हसंत पुलिनातरा । ज्वल-ज्वल-ज्वलंत भुवनातरा ।
(रामायण, २७।५)

संचल्लेउ राघव साधन-संग । सघट्टेउ वाहन वाहन-संग ।
थोडा'न्तरे देखु महासमुद्र । सूस अवर मकर-जलचरे हिं रौद्र ।
मत्स्योधर-नाका-गोह-घोर कल्लोलावंत तरंग-जोर
बेलहि बर्धतउ दुह-दुहत । फेनु'-उज्वल तोय-तुषार देंत ।
ते हि ऊपर पहुचे उ राम-सेन । जनु मेघजाल नभ-तले निपण्ण ।
(रामायण, ५६।१६)

घत्ता । मन-गतिहि गगने चलतउ, लक्खेउ लवण-समुद्र किमि ।
महि-मडल नभ-तल राक्षसेंहि, फाड़े उ जठर-प्रदेश जिमि ।।
दीसइ रत्नाकर रतन-चारु । विष्णु'व सवारि छंदि'व सगाथ ।
अर्थहु सुख इव हस्ति'व कराल । भडारी इव बहु-रतन-पाल ।
सु-भव पुरुष इव सलोन-शील । सुग्रीवि'व प्रकटेउ इन्द्र-नील ।
जिनसुत चक्रवर्ति'व किये उ शैल । मध्यान्हि'व ऊपर चढे उ बेल ।
तपसी इव पाले उ समय-सार । दुर्जन-पुरुष इव स्वभाव-खार ।
निर्धन-अलाप इव अ-प्रमाण । जोतिसि'व मीन-कर्कटक-थान ।
महकव्य-निबध इव शब्द-गहिर । चामीकरि' व शयित-पीक-मकर ।

तहं जलनिधिहु लंघंतयेहु । वोहितऊ देखे उ जांतएहु ।
सिह-वर्टहि लंवित-फलाउ । महऋपि-चित्ता इव अविचलाउ ।
(रामायण, ६९।२-३)

गोदावरी-नदी-वर्णन

थोवंतरे मच्छुत्थल्ल देंति । गोला-णइ दिट्ठ समुव्वहंति ।
सुंसुअ धोरघुरु-घुरु-हुरंति । करि-मय-रड्डोहिय डुहु-डुहंति ।
डिंडीर-संड-मंडलिउ दिंति । दद्दुर यरडिय दुरु-दुरु दुरंति ।
कल्लोलुल्लोहिउ उव्वहंति । उग्घोस-घोस घव-घव-धवंति ।
पडिखलण-वलण खल-खल-खलंति । खल-खलिय खडक्कि भडक्क देंति ।
ससि-संख-कुंद-धवलो भरेण । कारंडुड्डाविय डंवरेण ।
घत्ता । फेणावलि वंकिय-वलयालंकिय, णं महि बहुअहे तणिया ।
जल-णिहि भत्तारहो मोत्तिय हारहो, वाह पसारिय दाहिणिया ॥ ३ ॥
(रामायण, ३१।३)

इसकी हिन्दी छाया :
थोड़ातरे मच्छ-उछल्ल । देंत । गोदा-नदि देखु समा-वहत ।
सूसउ घोरा घुर-घुर-घुरन्त । करि-मद-रड्डोहित डुहु-डुहुंत ।
हिंडीर-खड मडलिउ देंत । दादुर-ध्वनियहु दुर-दुर-दुरंत ।
कल्लोलु'-ल्लोहित उद्वहंत । उद्घोष घोष घव्-घव्-धवंति ।
प्रतिखलन-वलन खल-खल-खलंत । खल-खलिउ खड्क्कि भटक्कि देंत ।
शशि-शख-कुद-धवला भरेण । कारंडव' डायउ डंबरेण ।
घत्ता । फेणावलि-वकिम वलयालकृत, जनु महि-वधुअहि-तनिया ।
जलनिधि भत्तारहु मौक्तिकहारहं । बांह पसारिय दाहिनिया ॥
(रामायण, ३१।३)

वन-वर्णन

तहि तेहए सुंदरे सुप्पवहे । आरण्ण-महागय-जुत्त-रहे ।
धुर लक्खणु रहवरे दासरहिं । सुर-लीलए पुणु विहरंत महिं ,
सं कण्ह-वण्ण-णइ मुए विगया । वण कहिमि णिहालिय मत्तगया ।
कत्थवि पंचाणण गिरि-गुहेहिं । मुत्तावलि विक्खिरंति णहेहिं ।
कत्थवि उड्डाविय.सउण-सया । णं अडविहे उड्डे विणण-गया ।
कत्थवि कलाव णच्चंति वरो । णावइ णट्टावा जुयइ-जगे ।

कत्थइ हरिणइं भय-भीयाइं । संसारहो जिह पावइ याइं ।
कत्थयि णाणा-विह रुक्ख-राइं । णं महि-कुल-वहुअहि रोमराइं ।
(रामायण ३६।१)

इसकी हिन्दी छाया :
तंह तेहिंहि सुदर सु-प्रभो । आरण्य महागज-युक्त रहो ।
धुर लक्ष्मण रथवरे दाशरथी । सुर-लीलहिं पुनि विहरत मही ।
सो कृष्ण-वेण-नदि मृग-सहिता । वन कहुउ निहारिय मत्तगजा ।
कहिं कहिं पंचानन गिरि-गुहाहिं । मुक्तावलियहिं विकिरंत नर्भाहिं ।
कहिं कहिं उड्डाये उ शकुन-शता । जनु अटविहि उड्डै वियद-गता ।
कहिं कहिं कलापि नाचंत वने । न्याई नाट्या वा युवति-जने ।
कहिं कहिं हरिना भय-भीताइं संसारहु जिमि पापहिं जाइं ।
कहि-कहिं नानाविध वृक्षराजि । जनु महि-कुलवधुवहि रोमराजि ।
(रामायण, ३६।१)

संध्या-वर्णन

उवहसइ संभाराउ सुह-वंधुरु । विद्‌मयाहरु मोत्तिय-दंतुरु ।
छिवइ'व मत्यउ मेरु-महीहरु । तुज्झुवि मज्झुवि कवणु पईहरु ।
जं चंद-कंत-सलिलाहिसित्तु । अहिसेय-पणालु'व फुसिय वित्तु ।
जं विद्दुम-मरगय-कंतिआहिं । थिउ गयणु'व सुरधणु-पंतिआहिं ।
जं इंदणोल-माला-मसीए । आलिहइ वंदि भित्तीए तीए ।
जहिं पोमराय-पह तणु विहाइ । थिउ अहिणव-संभाराउ णाइ ।
जहिं सूरकंति खेइज्जमाणु । गउ उत्तर-येसहो णाइ माणु ।
जहिं चंद-कंति मणि-चंदियाउ । णव-मंद-ब्भासें चंदियाउ ।
अच्छरिउ कुमार चवंति येव । वहु चंदी-हूयउ गयणु केम ।
पिक्खेप्पिणु मुत्ता-हल-णिहाय । गिरि-णिज्झर भणेवि धुवत्ति पाय ।
(रामायण, ७२।३)

इसकी हिन्दी छाया :
उपहसै सध्या-राग सुख-वधुर । विद्रुमक-अधर, मौक्तिक-दंतुर ।
छुवइ इव मस्तक मेरु-महीधर । तुम्हरेउ हमरेउ कवन पतीघर ।
जनु चद्रकान्त सलिलाभिषिक्त । अभिषेक-प्रणालि' व स्पृशित-चित्त ।
जनु विद्रुम-मरकत-कांतियाहिं । रहु गगन इव सुरधनु-पंक्तियाहिं ।
जनु इंद्रनील-माला-मसीहिं । आलिखइ वन्द भित्तीहिं ताहिं ।
जहं पद्‌मराग-प्रभ-तनु विभाहिं । रहु अभिनव-संध्या-राग न्याइं ।

जहं सूर्यकांति क्षीइज्जमान । गउ उत्तर-देसहिं ण्याइं भानु ।
जहं चंद्रकांतमणि-चद्रियाव । नव-चंद्रभासे चद्रिकाव ।
अंचरजेउ कुमार ज्यवंत एव । बहु चंद्रीभूतउ गगन केम ।
पेखियवउ मुक्ताफल-निभाय । गिरि-निर्झर भनि धोवंत पाय ।
(रामायण, ७२।३)

वसंत-वर्णन

कुव्वर-णयरु पराइय जावेंहि । फागुण-मासु पवोलिउ तावेंहि ।
पइठु वसंत-राउ आणंदें । कोइल-कलयलु मंगल-सद्दें ।
अलि-मिहुणेंहि वंदिगेंहि पढ़न्तेहि । वरहिण वावरेंहि णंच्चंतेंहि ।
अंदोला-सय-तोरणवारेंहि । ढुक्कु वसंतु अणेय-पयारेंहि ।
कत्थइ चूअ-वणइ पल्लवियइं । णव-किसलय-फल-फुल्लुब्भवियइं ।
कत्थइ गिरि-सिहरहिं विच्छायइं । खल-मुंह इव मसि-वण्णइं जायइं ।
कत्थइ माहव-मासहो मेइणि । पिय-विरहेण'व झूसइ कामिणि ।
कत्थइ गिज्जइ-वज्जइ मंदलु । णर-मिहुणेंहि पणच्चिउ गोंदलु ।
तं तहो णयरहो उत्तर-पासेंहि । जण-मण-हर जोयण-उद्देसेंहि ।
दिट्ठु वसंत-तिलउ उज्जाणु । सज्जण-हियउं जेम अपमाणु ।
(रामायण, २६।५)

णं दीसर-पइ सारऐ सारऐ । माहव-मासु णाइ हक्कारइ ।
सासय-सिव सं पावऐ पावऐ । दरिसावियउ फग्गुणे फग्गुणे ।
णव-फल पारिपक्काणणे काणणे । कुसुमिय साहारए साहारए ।
रिद्धि गयवकोवकणयहि कणयहो । हंस रमंसिये कु-वलएं कुवलएं ।
महुयर महु मज्जंतएं जंतएं । कोइल वासंतए वासंतए ।
कीर-चंदि उट्ठंतए-ठंतए । मलयाणिले आवंतए वंतए ।
मधुवरि-पडिसंल्लावए लावए । जहि णवि तित्तिरयहो तित्तिरऐं ।
णाउ ण णावइ किंसुइ किंसुइ । जहि वसेण गय-णाहहो णाहहो ।
तहि तसु तप्पइ सीयहे सीयहे ।
घत्ता—अच्छउ सामण्णे केणवि अण्णो, जहि अइमुत्तउ रइ करइ ।
तं जण-मण-मज्जावणो, सच्छ-सहावणु को महुमासु ण संभरइ ॥ १ ॥
कत्थइ अंगारय-संकासउ । रेहइ तंबिरु फुल्ल पलासउ ।
णं दावाणलु आउ गवेसउ । "को मइ दड्ढ ण दड्ढु पएसउ" ।
कत्थवि माहविए णिय-मंदिरु । यंतु णिवारिउ तं इंदिदिरु ।
ऊसरु ऊसरत्तहु अपवित्तउ । अण्णए णव पुप्फवइएच्छित्तउ ।
कत्थइ चूय-कुसुम-मंजरियउ । णाइ वसंत वड़ायउ धरियउ ।

कत्यइ पवण-हयइ पुण्णायइ । णं जगे उत्थल्लिया पुण्णायइ ।
कत्यइ अहिणवाइ भमरउलइ । थियइ वसंत-सिरिहि णं फुल्लइ ।
फणसइ अवुह-मुहा इव जड्डइ । सिरि-हलाइ सिरिहल इव थड्डइ ।
(रामायण, ७१।१-२)

इसकी हिन्दी छाया :
कुब्बर नगर पहूचेउ जब्बहिं । फागुन-मास प्रवोलेउ तब्बहिं ।
पइसु वसंत-राव आनन्दे । कोइल-कलकल मंगल-शब्दे ।
अलि-मिथुनेहिं वदीहिं पढन्तेहिं । बहिन वामनेहिं नाचंतेहि ।
अन्दोलित-शत-तोरणवारेहिं । ढुवकु वसंत अनेक-प्रकारहिं ।
कहिं कहिं चूत-वनहिं पल्लवितहिं । नव-किसलय-फल फूलु' दुमवितहिं ।
कहिं-कहिं गिरिशिखरा वि-च्छाया । खल-मुख इव मसिवर्णहिं लाया ।
कहिं कहिं माधव-मासहिं मेदिनि । प्रिय-विरहेहिं जनु श्वसही कामिनि ।
कहिं कहिं गावे वाजे मादर । नर-मिथुनेहिं प्रनाचेउ गोदल ।
सो तेहिं नगरह उत्तर-पासें । जन-मनहर योजन-उद्देशें ।
दीख वसत-तिलक उद्याना । सज्जन हियहिं यथा अप्रमाणा ।
(रामायण, २६।५)

जनु दीवस-पति धीरेइ धीरे । माधव-मास न्याइं हुंकारे ।
शाश्वत-शिव इव पावन-पावन । दरसायऊ फागुने फा-गुन ।
नव-फल-परिपक्वानन कानन । कुसुमेउ सहकारे-सहकारे ।
ऋद्धि गयेउ कोकनद करकहुं । हसा हसे कुवलय-कु-वलय ।
मधुकर मधु मज्जते यात्ते । कोकिल वासंतें वासतें ।
कीर-वदि उट्ठंते ठते । मलयानिल आवंते-वंते ।
मधुकरि प्रतिसलापे लापे । जहं नव-तीतरयें तीतरये ।
नाम न नावे किंसुकि किं-सुकि । जंह वशेहि गजनाथहं नाथहं ।
तहं तनु तप्पे सीतह शीते ।

घत्ता—आछेउ सामान्ये कौनहुं अन्ये, जहं अतिमुक्तउ रति करइ ।
जन-मन-मज्जावन, स्वच्छ-सुहावन, को मधु-मास न आदरइ ॥ १ ॥
कहिं-कहिं अंगारक-संकाशा । राजे तामरु फुल्ल पलाशा ।
जनु दावानल आइ गवेषा । "को मैं दाहु न दाहु प्रदेशा" ।
कहिं कहिं माधविया निज मदिर । जोउ निवारेउ इंदिदिरू ।
ऊमर ऊम ऋतुहुं अपवित्रा । अन्ये नव पुष्पवतिए क्षिप्तउ ।
कहिं कहिं मूक कुसुम-मजरिया । न्याइं वसत बडापउ धरिया ।
कहिं कहिं पवनाहत पुन्नागा । जनु जग ऊछल्लेउ पुं-नागा ।

कहिँ कहिँ अभिनव-भमर-कुलाऊ। रहेउ वसंत-सिरिहि इव कुरुलउ।
पनमा अवुध-मुरा इव जड्डा। सिरि-फल सिरिफलाहि इव यड्डा।
(रामायण, ७१।१-२)

मन्दोदरी सौंदर्य

घत्ता। सहसत्ति दिट्ठु मंदोयरिए, दिट्ठिए चल-मउहालइ।
दूरहो जे समाहउ वच्छयले, णं णीलुप्पल-मालइ ॥ २ ॥
दीसइ तेण वि सहसत्ति वाल। णं भसले अहिणव-कुसुममाल।
दीसंत चलण-णेउर रसंत। णं महुर-राय वंदिण पठंत।
दीसइ णियंव-मेहल-समग्ग। णं कामएव-अत्याण-मग्ग।
दीसइ रोमावलि छुडु चडंति। णं कसण-वाल-सप्पिणि ललंति।
दीसंति सिहिणि उवसोह देंत। णं उरयलु भिंदिवि हत्थि-दंत।
दीसइ पप्फुल्लिय वयण-कमलु। णीसासामोयासत्त-मसलु।
दीसइ सुणा (सु) अणुहुव सगंधु। णं णयण-जलहो किउ सेयउवंधु।
दीसइ णिड्डलु-सिरु चिहुर-छण्णु। ससि-विंवु'व णव-जलहर-णिमण्णु।
घत्ता। परिममइ दिट्ठि तहो तहिं जि तहिं, अण्णहिं कहिं'मि ण थक्कइ।
रस-लंपडु महुयर-पंति जिम, केयइ मुइवि ण सक्कइ ॥ ३ ॥
(रामायण, १०।२-३)

तहि अवसरें आइय मंदोयरि। सीहहो पासि'व सीह-किसोयरि।
वर-गणियारि'व लीला-गामिणि। पिय माहवियंधि महुरालाविणि।
सारंगि'व विप्फारिय-णयणी। सत्तावी संजोयण-वयणी।
कलहंसि'व थिर-मंथर-गमणी। लच्छि'व तिय तु वेंजू रवणी।
अहयो माणि हि अणुहर-माणी। जिह सा तिह एहवि पउ राणी।
जिह सा तिह एह वि सुमणोहर। जिह सा तिह एह वि पयसुंदर।
जिह सा तिह एह वि जिण-सासणे। जिह सा तिह एह वि ण कुसासणे।
घत्ता। किं वहु जंपिएण उवमिज्जइ काहे किसोयरि।
णिय-पडिछंदइ णा थिय, सइं जेणाइं मंदोयरि ॥ ४ ॥
(रामायण, ४१।४)

इसकी हिन्दी छाया :
घत्ता। सहसा दृष्ट मंदोदरिए, दृष्टिहि चल-भौंहा-लई।
दूरहुं हि घारे'उ वक्षतले, जनु नीलोत्पल-मालई ॥ २ ॥
दीसइ तेंहिंहि सहसा हि बाल। जनु भ्रमरे अभिनव-कुसुममाल।
दीसत चरण-नूपुर रसत। जनु मधुर-राव वदिनं पठंत।

किं कण्णा कुंडल-हरण एय। णं णं रवि-ससि-विप्फुरिय-तेय।
किं भालउ, णं णं ससहरद्ध। किं सिरु, णं णं अलि-उल-णिवद्ध।
(रामायण, ६६।२१)

इसकी हिन्दी छाया :
की चरण तलाग्रा कोमला। जनु जनु अभिनव-रक्तोत्पला।
की ऊरु परस्पर-भिन्न-तेज। जनु जनु वर-रम्भा-स्तम्भ एह।
की कनकडोरि डोलइ विशाल। जनु जनु अहि रतन-निधान-पाल।
की त्रिवली जठरु'परि धाइया। जनु जनु कामपुरिहि खाइंया।
की रोमावलि घन-कृष्ण एह। जनु जनु मदनानल-धूम-लेस।
की नव-थन, जनु जनु कनक-कलश। की कर, जनु जनु प्रारोह-सरिस।
की आलवित-करतल चलति। जनु जनु अशोक-पल्लव ललति।
की आनन, जनु जनु चद्रबिंब। की अधरउ, जनु जनु पक्व-बिंब।
की दशनावलिउ स-मौक्तिकाउ। जनु जनु मल्लिक कलियही भाउ।
की गंडपास जनु दन्ति-दान। की लोचन, जनु जनु काम-बाण।
की भौंहा एह परिस्थिताउ। जनु जनु मन्मथ-धनु-यष्टियाउ।
की कर्ण कुण्डलाभरण एह। जनु जनु रवि-शशि विस्फुरित-तेज।
की भालउ, जनु जनु शशधरार्ध। की शिर, जनु जनु अलि-कुल-निबद्ध।
(रामायण, ६६।२१)

भिन्न-भिन्न देशों की नारियां

घत्ता। तहो वणहो मज्झे हणुवंतेण, सोय णिहालिय दुम्मणिया।
णं गयण-मग्गेउ मेल्लिय, चंदलेह-बीयहे तणिया ॥ ७॥
सहिय सहासहि परिअरिय, णं वणदेवय अवयरिय।
तिण-मेत्तुवि णवलक्खणु जाहे, णिव्वण्णिज्जइ काइं तहे॥
वर-पय-तलेहिं पउणारएहिं। तिघलणहेहि दिहि गारएहि
उच्चंगुलिएहि वेडल्लिएहिं। बडुल्लिए गुपफेहि गोलएहि।
वर-पोट्टरिएहि मायंदियेहिं। सिरिपव्वय-तणिएहि मंडियेहि।
ऊरुअ-जुयले णिप्पालएण। कडिमंडलेण करहाडएण।
वरसोणिय कंची-केरियाए। तणु-णाहिएण गंभीरियाए।
सुललिय-पुट्ठिए सीवारियाए। पिंडत्थणिअए एलउलियाए।
वच्छयले मज्झिमएसएण। भुअ-सिहरें पच्छिमएसएण।
वारमईकेरेहि बाहुलेहि। सिंधव मणिबंधहि बट्टुलेहि।
माणगीवेंहि कच्छाणुएहिं। उट्ठुउडेहि कोंकणियहि-तणेहि।

दसणावलियए कण्णाडियए । ओहए कौ रोहणवाडियए ।
णासउडें तुंग विसयतरोहिं । गंभीरएहि वर-लोयरोहिं ।
भउहाजुएण उज्जेणएण । भालेण विचित्त उडाणएण ।
कासियहिं कवोलेहि पुज्जयेहिं । कण्णेहि मि कण्णाउज्जयेहिं ।
कावित्तेहिं केस-विसेसएण । विणएण विदाहिण-एसएण ।
घत्ता । अह किं वहुणा वित्थरेण, अण्णिवि इणणें सुन्दरि-मइण ।
एक्केकौवत्थु लएप्पिणु, णावइ घडिय पयावइण ॥ ८ ॥

(रामायण, ४१।८)

दिव्वेहि णाणा-पयारेहि पुप्फेहि । रत्तुप्पलं-दीवरंभोय-पुप्फेहि ।
अइउत्तया-सोय-पुण्णाय-णाएहि सयवत्तिया-मालई-पारिजाएहि ।
कणिया (र)-कणवीर-मंदार-कुन्देहि । विअइल्ल-वर-तिलय-वउलेहि मंदेहि ।
सिंधूर-वंधूक-कोरंट-कुज्जेहि । दमणेण मरुएण विक्का-तिसंज्झेहि ।
एवं च मालाहि अण्णण्ण-रुवाहि । कण्णाडियाहि'व्व सरसार-भूयाहि ।
आहीरियाहि'व्व वायाल-मसलाहि । वलाडियाहि'व्व मुह-वण्ण-कुसलाहि
सोरट्ठियाहि'व्व सव्वंग-मउआहि । मालविणिआहि'व्व मज्झारछउआहि ।
मरहट्ठियाहि'व्व उद्दाम-वायाहि । गीयज्झुणीहि'व्व अण्णण्ण-छायाहि ।

(रामायण, ७१।६)

इसकी हिन्दी छाया :
घत्ता । तहं वनहि मध्ये हनुमंतउ, सीय निहारेउ दुर्मनिया ।
जनु गगन-मार्गे उन्मीलित, चद्रलेख दुतियह-तनिया ॥ ७ ॥
सखिय सहस्रेंहि परिवारिय, जनु वनदेवी अवतरिया ।
तृण-मात्रहु नव-लक्षण जाहि, निर्वणिये काइं ताहि ॥
वर-पद-तलेहि पद्मार-एहिं । मिहलिनिएहिं दिशि-गोरवेहिं ।
उच्चागुलीहिं वैपुल्यएहिं । वाढल्लिए गुल्फेंहि गोलएहिं ।
वर-पेट्ट-एहि माकंदिएहिं । श्रीपर्वत-केरिहि मंडिनेहिं ।
ऊरुअ-जुगले नेपालगेहिं । कटिमडलेइ करहाटिकेहिं ।
वरश्रोणिय काची-केरिया । सूक्ष्म-नाभिकेहि गंभीरियां ।
सुललित-पृष्ठिय सिंधारियेहि । पिंड-स्तनियइ एलकुलियद्द ।
वक्ष-तले मध्यम-देशिया । भुज-शिखरे पश्चिम-देशिया ।
द्वारवती-केरइ बाहुवहि । गिपविय वर्त्तुल-मणिवथहि ।
मान-ग्रीवहिं वच्छाणनिया । ओठउडे कोंकणि-तनिया ।
दसनावलिहि कर्नाडिया । जोमहि गोहन-वाडिया ।
नासउडे तुंग-विषय-तनिया । गभीरिया वरलोचनिया ।

भौंहा-युगेइ उज्जेनिया । भालेहं विचित्र ओड्यिानिया ।
काणिया कपोलेहिं पुंजकेहि । कर्णेहिं हि कनउज्जकेहिं ।
केश-विशेषकेहिं काविलिया । विनयेहि हि दक्षिण देशिया ।
घत्ता । अरु का वहु-विस्तारेहिं, अन्यान्येहि सुदरिमयी ।
एक-एक वस्तु लेइके, जनु गढेउ प्रजापति ।

(रामायण, ४६।८)

दिव्येहिं नाना-प्रकारेहि पुष्पेहिं । रक्तोत्पलें-दीवर-भोज-पुष्पेहिं ।
अतिमुक्तका-शोक-पुन्नाग-नागेहि । शतपत्रिका-मालति-पारिजातेहिं ।
कर्णकार-कर्णवीर-मदार-कुदेहिं । वेईल-वरतिलक-बकुलेहिं मद्रेहि ।
सिंधुर-वधूक-कोरट-कच्चेहिं । दवनेहिं मरुएहि पिक्का-तिसध्येहिं ।
ऐसेहि मालाहिं अन्यान्य-रूपाहिं । कन्नाडियाहिं इव सरसार-भूताहिं ।
आहीरियाहिं' व वाचाल-भसला हिं । वाराडियाहिं' व मुखवर्ण-कुशलाहिं ।
सौराष्ट्रियाहिं' व सर्वांग-मृदुकाहि । मालविणियाहिं' व कटिमध्य सूक्ष्माहि ।
मरहट्ठियाहिं' व उद्दाम वाचाहि । गीत-ध्वनिहि इव अन्यान्य छायाहिं ।

(रामायण, ७१।६)

नारी-अधिकार

रावण—"हले हले सीए सोए किं मूढ़ी । अच्छहि दुक्खे महण्णवे छूढ़ी।...
हले हले सीए ! सोए ! महि भुंजहि । माणुस-जम्महो अणहुंजहि ।
घत्ता । पिउ इच्छहि पट्टु पडिच्छहिं, जइ सब्भावें हसिउ पइं ।
तो लइ मह एवि पसाहणु, अब्भत्थिय एत्तउ उ मइं" ॥१३॥
तं णिसुणेवि वयदेहि सुया । पमणइ पुलय-विसट्ट भुआ ।
सीता—"सच्चउ इच्छमि दहवयणु ।...
इच्छमि जइ महु मुहु ण णिहालइ ।...
जइ पुणु णयणानंदणहो, ण समप्पिय रहुणंदणहो ।
ता हउं इच्छमि एउ हले, पुरि खिप्पंती उयहि-जले ।...
इच्छमि णंदण-वणु मज्जंतउ । इच्छमि पट्टणु पयलहो जंतउ ।
इच्छमि दहमुह-तरु छिज्जंतउ । तिलु तिलु राम-सरेहि भिज्जंतउ ।
इच्छमि दस' वि सिरइं णिवडंतइं । सरे हंसाहय इव सयवत्तइं ।
इच्छमि अन्तेउरु रोवंतउ । केस-विसंथुलु धाह मुअंतउ ।
इच्छमि छिज्जंतिय धय-चिंधइं । इच्छमि णच्चंताइं कबंधइं ।
इच्छमि धूमं धारिज्जंतइं चउदिसु सुहड चियाइं बलंतइं ।
जं जं इच्छमि तं तं सच्चउ । णं तो करिमिज्जइ हले पच्चउ" ।

(रामायण, ४६।१५)

इसकी हिन्दी छाया :
रावण—"हले हले सीते सीते ! का मूढ़ि । रहहि दुःख-महार्णवे छूटि ।
हले हले सीते सीते ! महि भोगहु । मानुष-जन्महु फल अनु-भोगहु !
घत्ता । प्रिय इच्छहि पट्ट प्रतीच्छहु, यदि सद्भावें हसिउ तें ।
तो लेहु मम एहु प्रसाधन, अभ्यर्थेउ एतना मैं" ॥ १३ ॥
सो सुनिया वैदेह-सुता । प्रभणइ पुलक-विसृप्टभुजा ।
सीता—सांचे इच्छउं दशवदनू ।...
इच्छउ यदि मम मुख न निहारें ।
यदि पुनि नयनानदनहि, न समर्पेउ रघुनंदनहि ।
तो हौ इच्छउं एहु हले, पुरि फेकती उदधि-जले ।...
इच्छउ नन्दन-वन मज्जता । इच्छउ पट्टन पातल जता ।
इच्छउ दशमुख-तरु छियता । तिल-तिल राम-शरेहि भियन्ता ।
इच्छउ दसहु शिरा निपतंता । सरे हंसाहत इव शतपत्रा ।
इच्छउ अन्तःपुर रोवंती । केश-विसंस्थुल ढाह भरंती ।
इच्छउं छियता ध्वज-चिन्हा । इच्छउं नाचता कावंधा ।
इच्छउ धूमा धारिज्जता । चौदिशि सुहडी चिता वलता ।
जो जो इच्छउं सो सो साचय । जनु तो करऊ मैं फले प्रत्यय ।

(रामायण, ४८।१५)

सीता की अग्निपरीक्षा

कोसल-णयरे पराइय जावेंहिं । दिणमणि गउ अत्थवणहो तावेंहिं ।
जत्यहो पियपमेण णिव्वासिय । तहो उववणहो मज्झे आवासिय ।
कहवि विहाणु माणु णहि उग्गउ । अहिमुहु सज्जण-लोउ समागउ ।
कंतहितणिय कंति पेक्खेप्पिणु । पमणइ पोमणाहु विहसेप्पिणु ।
"जइ वि कुलग्गयाउ णिरवज्जउ । महिलउ होंति सुढु णिल्लज्जउ ।
दरदाविय कडक्ख-विक्खेवउ । कुडिलमइउ वड्ढिय अवलेवउ ।
बाहिर धिट्ठउ गुण-परिहीणउ । किह सयखंडु ण जंति तिहीणउ ।
णउ गणंति णिय-कुलु मइलंतउ । तिहुयणे अयस-पडहु वज्जंतउ ।
अंगु समोडेवि धिद्धिक्कारहो । वयणु णिएंति केम भत्तारहो" ।
सीय ण भीय सइत्तण गव्वें । वलेवि पवोल्लिय मच्छर गव्वें ।
"पुरिस-णिहीण होंति गुणवंति' वि । तियहेण पत्तिज्जंति मरंति' वि ।
घत्ता । खड्डुक्क-कड्डु सलिलु वहंते महो, पउराणियहे कुलग्गयहे ।
रयणायरु खारइ देंतउ, तो' वि ण थक्कइ णं रोम्मयहे ॥८॥
साणु ण केणवि जणेण गणिज्जइ । गंगा णइहे तेंजे ण्हाइज्जइ ।

ससि स-कलंकु तहि जे पह णिम्मल । कालउ मेहु तहि जे तडि उज्जल ।
उवलु अपुज्ज ण केणवि छिप्पइ । ताहि पडिम चंदणेण विलिप्पइ ।
घुज्जइ पाउ पंकुजइ लग्गइ । कमल-माल पुणु जिणहो चलग्गइ ।
दीवउ होइ सहावें कालउ । वट्टि सिहए मंडिज्जइ आलउ ।
णर-णारिहि एवड्डउ अंतरु । मरणेवि वेल्लि ण मेल्लइ तरुवर ।
एह पइ कवण बोल्ल पारंभिय । सइ वडाय मइ अज्जु समुब्भिय ।
तुहु पेक्खंतु अच्छु वीसत्थउ । डहउ जलणु जइ डहिवि समत्थउ ।
घत्ता । किं किज्जइ अण्णइ दिव्वें, जेण विसुज्झहो मह्नु मणहो ।
जिह कणय-लोलि डाहुत्तर, अच्छमि मज्झेउ आसणहो ।। ६ ।।

(रामायण, ८३।७-६)

इसकी हिन्दी छाया :

कोसलनगरे पहुचेउ जब्बहिं । दिनमणि गउ अस्तमनउ तब्बहिं ।
जहंवा प्रियतमेहिं निर्वासिय । तहिं उपवनहि माझ आवासिय ।
कहव विहान भानु ना उग्गउ । अभिमुख सज्जन लोग समागउ ।
कातहि-केरि काति पेखियवी । प्रभणै पद्मनाभ विहंसियवी ।
"यदपि कुलप्रताउ निरवद्या । महिलउ होंहि सुष्ठु निर्लज्जा ।
तनिकं दाबे कटाक्ष-विक्षेपउ । कुटिनमयिउ बाढिय अवलेपउ ।
बाहर ढीठउ गुण-परिहीना । किमि शतखंड न जाति त्रिहीनउ ।
नहिं गणही निजकुल मइलता । त्रिभुवने अयश-पटह वाजंता ।
अंग समोड्हु विविक्कारहु । वदन निर्यंति केम भर्तारहु" ।
सीय न भीत सतीत्वहिं गर्वें । बलेहु प्रबोल्लेउ मत्सर-गर्वें ।
"पुरुषा हीन होंहि गुणवंतउ । तियहिं न पतियायही मरतिउ ।
घत्ता । खडखड सलिल बहलियहु, पटरानियहु कुलग्रयहु ।
रतनाकर खारइ देंतउ, तोपि न थाकै जनु निर्मथे ।।८।।
मोउ न कोइहु जनेहिं गणीजै । गगानदिहिं सोउ नहईजै ।
शशि सकलंक ताहु प्रभा निर्मल । कालउ मेघ ताहु तडि उज्वल ।
उपल अपूज्य न कोउ छूवई । तेहि प्रतिमा चदन लेपइ ।
धोइये पाव पक यदि लागै । कमल-माल पुनि जिनहु समर्पै ।
दीपउ होहि स्वभावे कालउ । बाति शिखहिं मडिज्जै आलउ ।
नर-नारिही एवडउ अतर । मरतेउ बेलि न मेलै तरुवर ।
एहुतें कवन बोलि प्रारभिउ । सति वड़ाइ मैं आज समुज्झिउ ।
तुहु देखंत होहु विश्वस्ता । दहउ ज्वलन यदि दहन-समर्था ।

मत्ता। णा गीजें दूसर दिसहिं, जाणें विगुड्डइ गम मणा।
जिणि कणय-मोणे दाहुत्तर, रत्तुं मायेंह आगता ॥६॥

(रामायण, ८३।१-६)

काया-नरक

माणुसु देहु होइ घिणि-विट्टलु। सिरेहि णिबद्धउ हड्डह पोट्टलु।
चम्मु रूंगंतु माय-मउ कुहेडउ। मलहो पुंजु किमि-कीडहु मूडउ।
पूइगंध रुहिरामिस-भंडउ। चम्म-रुक्खु दुगंध-करंडउ।
अंतहो पोट्टलु पक्खिहिं मोयणु। वाहिहि भवणु मसाणहो भायणु।
भायहु कलुसियऊ जहिं अंगउ। कवण पएसु सरीरहो चंगउ।
अण्णुइ सुण्णरुय दुप्पेच्छउ। कडियलु पच्चाहर-सारिच्छउ।
जोव्वणु गंडहो अणुहरमाणउ। सिरु णालियर-करंक-समाणउ।

(रामायण, ५४।११)

एण सरीरे अथिणय-थाणे। दिट्ठु णट्ठ जलबिंदु-समाणे।
सुर-चावेण'व अथिर सहावें। तडि फुरणेण' व तक्खण-भावें।
रंभा गब्भेण'व णीसारें। पक्क-फलेण'व सउणाहारें।
सुण्णहरेण'व विहडिय-बंधें। पच्छहरेण'व अइदुगंधें।
उक्करडेण'व कीलावासें। अकुलीणेण'व सुकिय विणासे।
परिवाहेण'व किमि कोट्ठारें। असुइहि भवणं भूमिहि भारें।
अट्ठिय-पोट्टलेण वस-कुंडे। पूय-तलाये आमिस उंडे।
मलकूडेण रुहिर-जलघरणें। लसि-ढिवरेण पेम्म-णिज्झरणे।
कुहिय-करंडएण धिणिवंतें। चम्ममएण इमेण कुजंतें।

(रामायण, ७७।४)

तं चलणु जुअलु गय-मंथरउ। सउणहि खज्जंतु भयंकरउ।
तं सुरय णियंब सुहावणउं। किमि बुडबुडंति चिलसावणउं।
तं णाहि-पएसु किसोयरउ। खज्जंतमाणु थिउ भासुरउ।
तं जोव्वणु अवरुंडणमणउ। गुज्जंत णवर भीसावणउ।
तं सुंदरुवयणु जियंताहुं। किमि कप्पिउ णवर मरंताहुं।
तं अहर-विंबु वण्णुज्जलउ। लुंचंतु सिवेहिं घिणि-विट्टलउ।

इसकी हिन्दी छाया :
मानुष देह होइ घृण-विट्टल। शिराइ बांधेउ हाडह पोट्टल।
चलु सडंत मायामय-कचरउ। मलह पुज कृमि-कीटहु सूडउ।
पूतिगंध रुधिरामिष-भंडा। चर्मवृक्ष दुर्गंध-करंडा।

आंतह पोटल पक्खिहि भोजन । काढहिं भवन मसानेहु भायन ।
आयहु कलुपीयहु जहि अंगउ । कवन प्रदेश शरीरह चगउ ।
अन्यइं शून्य-रूप दुष्प्रेक्ष्यउ । कटितल पच्छाघर साड्श्यउ ।
जोवन गडहु अनुहरमानउ । शिर नारियर-करंक-समानउ ।

(रामायण ५४।११)

एहि शरीरे अविनय-थाने । हृष्ट-नष्ट जलबिंदु-समाने ।
सुर-चापा इव अथिर-स्वभावा । तडि-स्फुरणि' इव तरक्षण भावा ।
रंभागर्भ इवा निस्सारा । पक्वफल इव शकुनाहारा ।
शून्यघर इव विघटित-बधा । पच्छा घर इव अतिदुर्गंधा ।
कूडापुजि' इव कीटावासा । अकुलीना इव सुकृत-विनाशा ।
परिवाधा इव कृमि-कोट्ठारा । अशुची-भवना भूमिहि भारा ।
अस्थिय पोट्टलका वसकुडा । पूति-तलावा आमिष-कुडा ।
मल-कूटऊ रुधिर-जल छरना । लसि-विवरा पीव-निर्झरणा ।
कुथित करंडाऊ घृणवंता । चर्ममया एते कूजंता ।

(रामायण ७७।४)

सो चरण-युगल गजमंथरउ । शकुनेहि खाद्यत भयकरउ ।
सो सुरत-नितब-सोहावनऊ । कृमि बुजबुजति चिरसाइनऊ ।
सो नाभिप्रदेश कृशोदरऊ । खाद्यतमान ठिउ भासुरऊ ।
सो यौवन अवरुंडन-मनऊ । मुज्जंत अती-भीपावणऊ ।
सो सुदर वदन जियतेही । कृमि-काटिय तुरत मरतेही ।
सो अधर-बिंब वर्णोज्वलऊ । नोचत शिवेहि घृण-विट्टलऊ ।
सो नयन-युगल विभ्रमभरिऊ । विच्छायउ कायहु खप्परिऊ ।
मो चिकुर-भार हर्षावणऊ । उड्डंत तुरत भीपावणऊ ।
घत्ता । सो मानुप मो मुखकमल, सो स्तन सो गाढालिंगनऊ ।
तुरत धरते नामकुद्ध, बोलिय धिक् चिरसाइनऊ ।। ७ ।।

हिन्दी में पारिभाषिक शब्दों का निर्माण

स्वतंत्र भारत की शिक्षा अपनी भाषा में हो, यह कहने की आवश्यकता नहीं। ऐसा कोई भी स्वतंत्र देश नहीं जिसकी अपनी स्वतंत्र भाषा न हो या कि जो दूसरी भाषा में शिक्षा देता हो। हमारे लिए ऐसी भाषा हिन्दी है, यह निर्विवाद है।

परन्तु हिन्दी, प्रान्तीय भाषाओं का स्थान नहीं लेना चाहती। सब प्रान्तों में अपनी-अपनी भाषाओं में उच्च विश्वविद्यालयीन शिक्षा देनी चाहिए। हिन्दी भाषा का तो हिन्दी भाषा के प्रान्तों के अतिरिक्त, सारे भारत की राष्ट्रभाषा होने के कारण कर्तव्य और भी बढ़ जाता है। हिन्दी उच्च अध्ययन के लिए पारिभाषिक शब्दों की कमी को पूरा करके अपनी ही नहीं अपितु सभी भारतीय भाषाओं की सहायता कर सकती है। इस काम में सभी प्रान्तीय भाषाओं को भाईचारे से काम लेना चाहिए।

परन्तु यह काम बहुत बड़ा जान पड़ता है कि समूचे ज्ञान-विज्ञान को हिन्दी में लाया जाये। जिस काम को दूसरे देशों ने २००-३०० वर्षों में किया है, उसे हमें बहुत थोड़े समय में करना है। परन्तु यह काम हमें जल्दी से जल्दी करना है। हिन्दी साहित्य सम्मेलन ने इस काम को अपने हाथ में लिया है। शासन-शब्दकोश १०००० से ऊपर शब्दों का बन कर तैयार है, जो प्रेस में जाने तक १५००० शब्दों का हो जायेगा। शुद्ध विज्ञान और कला के अन्य विषयों पर पारिभाषिक शब्द-निर्माण कार्य अन्य संस्थाएं कर रही है, इसलिए सम्मेलन ने पहले व्यावहारिक विज्ञान की २३ शाखाओं के शब्दों का काम हाथ में लिया है। इसमें करीब सवा लाख शब्द होंगे। यदि सबका सहयोग मिले और पर्याप्त परिश्रम किया जाय तो यह काम एक साल में हो सकता है। यह वैज्ञानिक पारिभाषिक कोश छः जिल्दों में तैयार होगा—चिकित्सा, विज्ञान, इंजीनियरिंग, भूगर्भ, नौ-विमान, रसायन और कृषि।

पारिभाषिक शब्द बनाने में हमने कुछ नियम रखे है। हिन्दी साहित्य सम्मेलन की ओर से जो शासन-विषयक तथा अन्य व्यावहारिक विज्ञानों के लिए पारिभाषिक शब्दावली और कोश बन रहे हैं, उनमें भाषा-विषयक नीति नीचे दिये सिद्धान्तों पर आधारित होगी, जिसके अनुसार शब्दों का चुनाव तथा निर्माण किया जायेगा।

प्रचलित शब्द : जन-प्रचलित शब्द रखने की पूरी कोशिश की जायेगी। पारिभाषिक शब्द भी आखिर जन-साधारण के प्रयोग के लिए ही तो बन रहे हैं। वे केवल विशेषज्ञों के लिए ही तो नहीं है। बढ़ती हुई साक्षरता और औद्योगीकरण के साथ-साथ जनता व्यावहारिक विज्ञान को अपनी ही भाषा में समझेगी और समझायेगी। और ऐसे समय किसी भी जन-प्रचलित शब्द को केवल वह विदेशी है अथवा अपभ्रंश है, इसलिए त्याज्य मानना, भाषा के मूल उद्देश्य, जन-सुलभता और जन-सुगमता के विरुद्ध होगा। अतः कोई भी शब्द चाहे वह अहिन्दी प्रान्तों का हो, अंग्रेजी का हो या अन्य विदेशी भाषा का, यदि वह बहु-प्रचलित है और वह यथार्थ परिभाषा दे सकता है, तो उसे यथा-सम्भव लेना चाहिए।

परन्तु जन-प्रचलित शब्दों के लेने में यह ध्यान रखा जाये कि ये शब्द सारे भारत की दृष्टि से लिये जायें। पारिभाषिक शब्द कुछ ऐसे भी हो सकते हैं, जो भिन्न-भिन्न प्रान्तों में भिन्न-भिन्न अर्थों में प्रयुक्त होते है। उनमें से कई संस्कृत के तत्सम रूप भी है—वहां प्रधानता ऐसे रूपों को दी जाये जो अधिकाधिक प्रान्तों में बोले जाते हो। यदि कुछ शब्द नये भी बनाने पड़ें तो तीसरे कॉलम मे, यानी दूसरे विकल्प देते समय, सर्व भारतीय शब्द ही दिये जाये।

अप्रचलित शब्द : सभी अप्रचलित नये शब्द संस्कृत से लिये जायें क्योंकि वह हमारी प्रान्तीय भाषाओं की ही नही, बल्कि बृहत्तर भारतीय भाषाओं की मूल भाषा है। परन्तु उसमे भी उच्चार सौकर्य का ध्यान रखा जाये। साथ ही अर्थ की अलग बारीकियों को भी व्यक्त करने की सुविधा संस्कृत से ही मिल सकेगी। शब्दों की व्युत्पत्तियां भी संस्कृत से सहज साध्य है।

नये शब्द बनाते समय दो पद्धतियां बुझायी जाती हैं—एक, अन्तर्राष्ट्रीय शब्दों को ज्यों का त्यों ले लिया जाये; और दो, सब शब्द केवल संस्कृत से लिये जायें। दोनों पद्धतियो की चरम सीमा तक पहुचना ठीक नही। दोनों विचारों मे ग्राह्य अंश है, उसे लेकर तीसरा नया मध्य-मार्ग स्वीकार करना होगा।

(अ) अन्तर्राष्ट्रीय शब्द कह कर जो अंग्रेजी, जर्मन या फ्रेंच शब्दों की दुहाई दी जाती है, वे केवल पश्चिमी योरोप तक सीमित शब्द हैं। पूर्वी योरोप, रूस, चीन, जापान और दक्षिण-पूर्वी एशिया में वे शब्द प्रचलित नही। वहां अनुवादित शब्द प्रचलित है।

(आ) परन्तु जो अन्तर्राष्ट्रीय शब्द वस्तुओं के साथ जनता तक पहुंच गये हैं, उन्हें लेना है—जैसे टेलीफोन, रेडियो, इंजीनियर, डाक्टर, सबमेरीन, विजा, फौज के पद (लेफ्टिनेंट, मेजर, कमिसार), आयुधनाम (मशीनगन,

ब्रेन गन, टारपीडो, आदि)। परन्तु निराकार भाव-वाचक शब्द या अप्रचलित साकार वस्तुओं के व्यंजन शब्द सस्कृत से लिये जायें।

(ए) जो शब्द वस्तुओं के साथ जनता तक पहुंच गये हैं, उनके लिए संस्कृत शब्द गढ़ना अनावश्यक है, जैसे रेल, टाइपराइटर, टिकट, सिग्नल आदि। परन्तु जहा संस्कृत शब्द और देशज मे शब्द स्पर्धा हो, देशज शब्द को प्रधानता दी जाय।

(ई) सस्कृत शब्द जो तत्सम के रूप में शिक्षित जनता के सामने पहुंच गये हैं, उनसे सस्कृत के मूल शब्द लिये जायें। वही नये शब्द गढने का मूल उपादान होगा।

इस प्रकार ऐसे अन्तर्राष्ट्रीय या संस्कृत शब्द जो कि अप्रचलित हो, या केवल विशेषज्ञों मे प्रचलित हों, अग्राह्य हैं। *सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक विज्ञान* में निश्चय ही संस्कृत-मूलक शब्द अधिक आयेंगे।

परिभाषा-निर्माण पद्धति : किसी भी अंग्रेजी या अन्य पारिभाषिक शब्द का पर्यायवाची पहले प्रचलित, देशज शब्दों में देखे। यदि न हो, तो फिर नया शब्द बनाया जाय, जिसमें शब्द को प्रयोग में लाने वाले वर्ग या जन-साधारण का ध्यान रखा जाये। जहा केवल सैद्धान्तिक अथवा विभाजन विषय शब्दावली हो, जैसे वनस्पति-विज्ञान, प्राण-विज्ञान आदि में, वहा सस्कृत से सहायता लेना आवश्यक है। इसमें इन बातों का ध्यान रखा जाये :

(अ) शब्दों के समान व्युत्पत्ति-ग्रहण में एकता का ध्यान रखा जाये, परन्तु वह एकता यान्त्रिक न होकर भाषा के विकास मे, जैसी विकास की स्वतंत्रता देखी जाती है, वैसा ही ध्यान में रख कर हो।

(आ) शब्दों के निर्माण मे समास मे सस्कृत-असंस्कृत का कोई विचार न रखा जाये। केवल यह ध्यान अवश्य रखा जाये कि वह जन-साधारण को खटकने वाला न हो।

(इ) बड़े, सामासिक, उच्चारण-क्लिष्ट शब्दों की अपेक्षा समानार्थी, सरल शब्द सदा अधिक उपयोगी होंगे।

हम सभी शिक्षा प्रेमियों, टेक्निकल शिक्षा-विशारदों, वैज्ञानिकों, भाषा-शास्त्रविदों तथा साहित्यिक, वैज्ञानिक, औद्योगिक संस्थाओं मे आशा रखते हैं कि हमारे इस काम में वे पूरा सहयोग देंगे। इस विषय मे जो भी परिभाषा निर्माण कार्य कहीं भी, भारतीय भाषा में हुआ हो और हो रहा हो, उसकी भी हमें सूचना दें। जो भी व्यक्ति इस काम को करना चाहे, या जो कर रहे हो, या कर चुके हो, वे कृपया अपने नाम, पते और कार्य का विवरण हमें दें तथा इस महान अनुष्ठान को सफल बनायें। ●

आचार्य रघुवीर का परिभाषा-निर्माण

हिन्दी में विशेष तौर से और भारत की दूसरी भाषाओ के लिए भी अब वह समय आ गया है, जब विज्ञान की हर एक शाखा के नीचे से ऊपर तक की शिक्षा और अनुसधान के लिए आवश्यक वैज्ञानिक परिभाषाओं के शब्द अपनी भाषा में तैयार कर लेने चाहिए। इस काम में जितनी ही देरी होगी, उतनी ही देर मातृभाषा द्वारा शिक्षा देने मे भी होगी और उतनी ही देर तक हमारी चिर-दासता की प्रतीक अंग्रेजी सिर पर बैठी रहेगी। यह प्रसन्नता की बात है कि परिभाषा-निर्माण का काम हिन्दी भाषा-भाषी क्षेत्र में तत्परता से होने लगा है। लेकिन, परिभाषा-निर्माण के बारे मे सबसे विशाल कार्य आचार्य रघुवीर के तत्वावधान मे नागपुर में हो रहा है और जिसके लिए मध्यप्रान्त की सरकार धन खर्चने मे भामाशाह के कान काट रही है। यह "वृहद् आग्ल-भारतीय कोश" अब छपने लगा है और छप जाने पर हजार पृष्ठ से कम न होगा। सिर्फ कागज और छपाई पर ही सवा लाख के ऊपर खर्च होने वाला है, कोश-निर्माण के कार्य में अवश्य ही इससे बहुत अधिक खर्च हुआ होगा। राष्ट्र के लिए इतने महत्वपूर्ण कार्य का जितनी तत्परता के साथ अनुष्ठान हुआ है, उसके लिए मध्यप्रान्त की सरकार, आचार्य रघुवीर तथा उनके सहकारी हमारे हार्दिक धन्यवाद के पात्र हैं।

हम यहां कोश का परिचय और इसके चमत्कारों का रसास्वादन कराना चाहते हैं। लेकिन अफसोस है कि हमारे पास वृहद्-कोश नहीं है, केवल कोश का सक्षिप्त संस्करण Elementary English Dictionary हमारे सामने है। यह हाई स्कूल के उपयोग के लिए लिखा गया है और इसमें ६००० के ही लगभग शब्द होंगे। इस कोश के ही देखने से पता लगता है कि परिभाषा-निर्माण में आचार्य रघुवीर का दृष्टिकोण महा-क्रान्तिकारी है।

यदि अमरकोश की भांति इस परिभाषावली के कण्ठस्थ करने की परिपाटी किसी तरह चलायी जा सके, तो इसमें सन्देह नही कि यह दस हजार या इसके वृहद्-संस्करण के ६०-७० हजार शब्द हमारी ही सारी आवश्यकताओं को पूरा नहीं कर सकते, बल्कि हमारी अनन्त पीढ़ियों की सारी कठिनाइयों को दूर कर सकते हैं—जहां तक कि ज्ञान-विज्ञान की पूरी परिभाषाओं का सबंध है।

आचार्य रघुवीर नैरुक्तों की भांति "नाम च धातुजमाह् निरुक्ते" के घोर

पक्षपाती हैं। स्वामी दयानन्द ने अपौरुषेय वेद में इतिहास के आक्षेप को दूर करने के लिए वैदिक नामों को धातुज मान कर उनका यौगिक अर्थ निकाला था; किन्तु, उन्होंने दुनिया मे रूढ़िज नाम भी होते हैं, इससे इनकार नहीं किया था। आचार्य रघुवीर ने निरुक्त-सिद्धान्त का अत्यन्त व्यापक प्रयोग किया है। इसीलिए विशेष अर्थों मे रूढ हो गये शब्द उनकी दृष्टि में वही अर्थ रखते हैं, जो उनकी मूल धातुओं से निकलते या निकाले जा सकते हैं। उदाहरणार्थ—वशीकरण का अर्थ Control, अर्थात् अब से Control shop वशीकरण पण्यशाला और Control officer को वशीकरण-अधिकारी कहना पड़ेगा; इसी तरह 'उच्चाटन' to overturn के लिए है। इससे स्पष्ट हो रहा है कि मारण, मोहन, उच्चाटन और वशीकरण के जो अर्थ हम पीढ़ियों से समझते आये है, अब उनको छोड़ना पड़ेगा।

साथ ही ये शब्द स्त्री-पुरुष के संबंध से सम्बद्ध हैं, इसलिए अभिसार, और जार-साधन का भी नये कोश के अनुसार अर्थ समझ लिया जाय तो बात बड़े काम की होगी। अभिसार का अर्थ है Convergence (सरूपता)। अभी तक हमारे यहा जार-साधन की ही चिन्ता थी और अथर्ववेद में बहुत परिश्रम के उपरान्त इसके लिए मंत्र भी जमा कर दिये गये हैं। जारक-साधन शब्द सुनने से ख्याल आयेगा कि आज के युग में इसकी भी 'आवश्यकता हो'; किन्तु आचार्य रघुवीर इससे बहुत शिष्ट अर्थ निकालते है, जो है to treat with oxygen (ऑक्सीजन मे प्रभावित करना)।

'याम' और 'भाजन' के अर्थ आज तक रहे है 'पहर' और 'पात्र', लेकिन नये कोश ने उन्हें Coordinates (भुजयुग्म) और cleavage का पर्याय बना दिया है।

आचार्य रघुबीर ने रूढ़ि के बन्धनों से अपने को मुक्त करके प्रत्यय और उपसर्ग लगाकर शब्दों के निर्माण का रास्ता प्रशस्त कर दिया है। इसमें लाघव अवश्य है, लेकिन कठिनाई फिर भी रह जाती है; क्योंकि सभी भाषा भाषी भाषा के संबंध में रूढिवादी होते हैं। किसी विशेष अर्थ में रूढ़ हो गये शब्दों को वे उसी अर्थ में लेते हैं, जिसमें वह रूढ़ हो गये हैं।

लागू करना, लगन और लग्न मूलतः ये तीनो शब्द एक ही धातु से बने हैं, लेकिन तीनों के अर्थों मे आकाश-पाताल का अन्तर है। "लागू करना", "लगन का आदमी" और "राम के बेटे की लग्न धरी गयी है," तीनों उदाहरणों से इनके अर्थ-भेद स्पष्ट है (हिन्दी में लग्न, पूरा ब्याह नहीं समझा जाता, लेकिन गुजराती मे तो यह ब्याह का पर्याय है)। शब्दों के ऐतिहासिक विकास के साथ दुनिया की और भाषाओ की भांति हमारी भाषा मे भी भिन्न-भिन्न अर्थ आ गये हैं। भिन्न-भिन्न अर्थों के लिए भिन्न-भिन्न शब्दों को ढूढने की तकलीफ से

हम बच जाते हैं, जब हम उनके इन अपभ्रंश रूपों को स्वीकार कर लेते हैं। किन्तु, आचार्य रघुवीर सिर्फ संस्कृत रूप ही को स्वीकृत करना चाहते हैं। वे म्लेच्छ शब्दों की शुद्धि के विरुद्ध नहीं हैं।

'गाजर' म्लेच्छ भाषा का शब्द है, लेकिन आर्यों के मुंह में इतना अधिक बस गया है कि उसे उसी तरह नहीं छोड़ा जा सकता, जिस तरह गाजर-कन्द को। किन्तु आचार्य रघुवीर उसे भी तब तक स्वीकार करने के लिए तैयार नही है, जब तक कि उसे संस्कृत रूप न दे दिया जाय। उन्होंने गाजर को गर्जर बना दिया। आखिर हमारे पूर्वजों ने काफी पहले गजनी को गर्जनी बना ही दिया था। अंग्रेजी में गाजर के लिए carrot शब्द आता है, जिससे carotin (गाजर-सार) बनता है, आचार्य ने इसे 'गर्जरि' कहा है।

'गाजरि' भी बन सकता था, लेकिन शब्दों के सुखोच्चारण को आचार्य भूषण नहीं दूषण समझते हैं, इसीलिए उनकी यह सदा कोशिश रहती है कि पारिभाषिक शब्दों के क्लिष्ट से क्लिष्ट उच्चारण रखे जायें: भ्वाकृष्टित्वरण (Acceleration due to gravity), सिक्ष्यातु (Thallium), पित्वक्षादु (Duboisia myoporoides), त्रिक्षामेण्य (Anthracene), मृज्यातु (Cadmium), छिद्रिष्ठ (Sponge), शल्कलाक्षा (Shellac), प्रह्लासमाजन (meiosis), और नमत्प्रस्थाणु (leaning tower)। आचार्य के क्लिष्ट उच्चारण वाले शब्दों से किन्हीं को दांत और जबड़े टूटने की शिकायत हो सकती है, पर उन्हें मालूम नहीं है कि अब हमारी भाषा संस्कृत की ओर अभिसार कर रही है।

तेरहवीं सदी तक लोकभाषा में अपभ्रंश रूप की ओर प्रवृत्ति देखी जाती थी। उसके बाद फिर से शुद्ध संस्कृत के तत्सम शब्द लिये जाने लगे। पिछले तीस वर्षों में तो हमारी भाषाओं ने इस दिशा में और भी प्रगति की है और अब तो आसानी से ६०-७० प्रतिशत संस्कृत शब्द वाले वाक्य हमारी सभी भाषाओं की साहित्य-रचनाओं में मिल सकते हैं। हमारी भाषा का संस्कृत की ओर यह "अभिसार" बतला रहा है कि चाहे कुछ वर्ष और लगें, किन्तु अन्त में चल कर संस्कृत यदि हमारी नहीं तो हमारी अगली पीढ़ी की मातृभाषा बनने जा रही है। आचार्य रघुवीर की क्रान्तिदर्शिता इस बात को अच्छी तरह समझ चुकी है। इसीलिए वह जो भी पारिभाषिक शब्द बना रहे हैं, वह हिन्दी-बंगाली, मराठी-गुजराती को सामने रख कर नहीं, बल्कि Indian (भारतीय) भाषा के लिए। 'भाखा' को वे भी उसी तरह तुच्छ दृष्टि से देखते हैं, जिस तरह गोस्वामी जी के समकालीन काशी के पण्डित लोग और जिसके लिए गोस्वामी जी को रामचरितमानस पर विश्वनाथ जी की मुहर भी लगवानी पड़ी थी।

आचार्य रघुवीर "अर्धमात्रा" नही "पावमात्रा" के लाघव से ही पुत्रोत्सव मनाने वाले है, इसका निदर्शन उनकी शब्दावली से जगह-जगह मिलता है, जैसे सुपश्लिप=सुपव+श्लिप। सुपव का अर्थ है alcohol (मद्यसार) और श्लिप है अंग्रेजी gel (gelatin के gel) के लिए, इसलिए alcogel को जैसे अंग्रेजी वालों ने बनाया है, उसी प्रक्रिया से आचार्य ने भी अपने शब्द का निर्माण किया है।

लेकिन protein का पर्याय 'प्रोभूजिन' बनाने मे आचार्य दुनिया की सारी भाषाओं को बहुत पीछे छोड़ गये है—प्रोभूजिन=प्र(=प्रांगार Carbon)+उ (=उदजन Hydrogen)+भू (=भूयालि Nitrogen)+ ज (=जारक Oxygen)+ इन (प्रत्यय)। इस प्रकार एक प्रोभूजिन जान लेने से सिर्फ प्रोटीन का पर्याय ही नही मालूम हो जाता, बल्कि जिन रासायनिक तत्वों से प्रोटीन बनती है, उनका भी पूरा ज्ञान हो जाता है। यदि कहीं आचार्य श्री ने रासायनिक परमाणुओं के अंकों का भी सकेत कर दिया होता, तो लोग आसानी से घर बैठे प्रोटीन को बना लिया करते।

"वासव-सलिल" कितना सुन्दर नाम है, इन्द्र का जल या "इन्द्र का गुलाब।" इससे कोई महार्घ सुगन्धित तरल पदार्थ का बोध होता है। Eau-de-cologne फ्रेंच रमणियों के मुख मण्डल को वासित करने वाला वैसा ही द्रव्य है। लेकिन आचार्य ने वासवसलिल इतनी सस्ती व्याख्या के लिए नही बनाया। वासवसलिल से उनका अर्थ है वास (गन्ध)+व (सुपव Alcohol का संक्षिप्त रूप)+सलिल। अर्थात् मद्यसार से वासित जल।

मिट्टी के तेल को "मृत्तिकातैल" बनाकर हमारे कितने ही संस्कृत के पंडित भूल कर रहे थे। आचार्य श्री ने कितना सुन्दर संस्कृत नाम इस पूतिगन्ध वस्तु के लिए दिया है—समुप्रतैल=सम्+उ (उदजन Hydrogen)+प्र(प्रांगार Carbon)+तैल। "आम के आम और गुठली के दाम" आपको नाम भी मिल गया और साथ-साथ यह भी मालूम हो गया कि किन-किन रासायनिक तत्वों से यह अभागा मिट्टी का तेल बनता है।

उपसर्ग से धातुओं का अर्थ जबर्दस्ती दूसरी जगह ले जाया जाता है, यह तो पुराने वैयाकरण भी कह गये थे; लेकिन इस दिशा मे उनका साहस उतना आगे नहीं बढ़ा था। आचार्य की धारणा है—मुट्ठी भर धातु और एक दर्जन उपसर्ग मिल जाने चाहिए, फिर देखिए क्या से क्या किया जा सकता है! जैसा कि श्रीमुखवचन है :

(Introduction) "Every उपसर्ग conveys two or three primary meanings. Hence it is simple to conprehend as to how they will modify the meaning of original verb (sic root). The

twenty prefixes given above can be combined in almost arithmetical groups of two and three. Theoretically we could have as many as six to eight thousand combinations with a distinct connotation. Every one of these combinations when joined into the various derivatives, which may be taken as about eighty, the number goes upto about five lacs. This is a big figure, too big to be ever required by any language, but this will give an idea of the great possibilities which lie before us in this richness of Sanskrit language where the meaning of *every prefix and suffix is clear within certain limits and the* grammatical authorities like Panini, Patanjali and Katyayana (and we may safely add the name of our Acharya too—R.) have laid this smooth path to traverse. We shall not starve for want of words."

अर्थात, "प्रत्येक उपसर्ग दो या तीन मुख्य अर्थों को द्योतित करता है। इससे सहज ही में सोचा जा सकता है कि धातुओं के मूल अर्थ को किस प्रकार वे कहा से कहां पहुंचा सकते है। ऊपर दिये गये बीस उपसर्गों को दो-दो या तीन-तीन मिलाकर और भी अधिक उपसर्ग बनाये जा सकते हैं। इस प्रकार सैद्धान्तिक रूप से हम छः से आठ हजार तक केवल इन उपसर्गों के उलट-फेर से बनाये गये रूपों की सख्या को ले जा सकते है, जिनमें से प्रत्येक में नया अर्थ द्योतित करने की शक्ति होगी। इनमें से भी प्रत्येक को कृदन्त-प्रत्ययों से, जिनकी संख्या लगभग ८० के होगी, जोड़-जोड़कर बनाये गये संयुक्त रूपों की *संख्या पाच लाख तक की जा सकती है। यह संख्या काफी बड़ी है। शायद* इतनी बड़ी सख्या किसी एक भापा की आवश्यकताओं से कहीं अधिक है। किन्तु, इसमें संस्कृत भाषा की समृद्धि का पता लगता है। और इस खजाने मे कितना लाभ उठाया जा सकता है, इसकी भी सहज ही मे कल्पना की जा सकती है। वहां प्रत्येक प्रत्यय और उपसर्ग का सीमित दायरे में अपना एक अलग अर्थ है और पाणिनि, पतञ्जलि तथा कात्यायन (और हम बड़ी आसानी मे इनके साथ आचार्यश्री का नाम भी जोड़ सकते हैं—रा.) जैसे वैयाकरण आचार्यों ने हमारे लिए यह पथ प्रशस्त कर दिया है। शब्दों के लिए हमें भूखों मरना नही पड़ेगा।"

हिन्द-योरोपीय भापाओ में रूमी ने उपसर्ग द्वारा धातुओं पर बलात्कार करने की परिपाटी पिछली पाच-छः शताब्दियों से चला रखी है, इस तरह उमने शब्द भी बहुत अधिक बनाये हैं और वहां दो-दो उपसर्ग नहीं, तीन-तीन उपसर्गों का जोड़ना बायें हाथ का खेल है। भेद इतना ही है कि वहां पाच-छः

शताब्दियों की बीसियों पीढियों ने मिलकर खिचड़ी में नमक डालने वाले दोस्तों का अनुसरण किया था। शुरू में किसी धातु के साथ "प्र" उपसर्ग लगाया गया, जो मालूम नही उस वक्त प्रे या क्या था। वह घिस-घिसा कर अपभ्रंश बन कर "पो" रह गया। फिर किसी ने उसमें आकर "प्र" लगा दिया और इस तरह प्रेपोदवातेल् शब्द का निर्माण हुआ। भला हम पहले नही तो अभी ही सही, क्यों रूसियों से पीछे रहें? उपसर्ग आखिर किस मर्ज की दवा हैं। इतने दिनों तक उन्हें कोठरी में बन्द रख कर हमने काफी पाप बटोर लिया है। अब समय आ गया है कि उनके द्वारा धातुओं पर बलात्कार किया जाय।

हां, एक अन्तर हमारे प्राचीन मुनित्रय और आज के अद्वैत-मुनि में अवश्य है। वह "उपसर्गेण धात्वर्थो बलादन्यत्र नीयते" के ब्रह्म-वाक्य द्वारा स्वयं बलात्कार नही करना चाहते थे, बल्कि सहस्राब्दियों में जनता ने जो बलात्कार किया था, उसी के औचित्य को उन्होंने सिद्ध किया था। लेकिन हमारे आचार्य सिर्फ भूतकाल के आचार्य नहीं हैं, उनकी दृष्टि भविष्य पर भी है। पुराने मुनित्रय शब्दो के रूढिवाद के इतने फेर मे पड़ गये थे कि वे फूंक-फूंक कर कदम रखते थे और उपसर्गों और धातुओं से मिल कर बनाये हुए शब्दो को ऐसे अर्थ नही देना चाहते थे, जो पहले के प्रचलित अर्थों से बिल्कुल उल्टी दिशा में जाते हो। अर्थ-साकर्य का उनके ऊपर बहुत संकट था। "लीक-लीक गाड़ी चले, लीकहिं चले कपूत। बिना लीक के तीन हैं, शायर-सिंह-सपूत।" आचार्यश्री शायर हैं या नहीं यह हम नही जानते; लेकिन उनके सिंह और सपूत होने मे कोई सन्देह नहीं। वह गड्डलिका-न्याय के मानने वाले नहीं कि जनता ने जो शब्द बना दिये या जिन शब्दों मे जो अर्थ डाल दिये, उन्हे मानते रहें। आचार्यश्री अकेले गम् धातु से बने पाच लाख शब्दों की महान् राशि को देखकर कुछ खिन्न मन से हो गये, लेकिन *'कालोह्यय निरवधिर्विपुला च पृथ्वी'* आचार्यश्री का बोया हुआ बीज अकारथ नही जायेगा, उनकी शिष्य-मण्डली आचार्य के झण्डे को लिये हुए जरूर आगे बढेगी।

हां तो, आचार्य अर्थ रूढियों को इसीलिए नही मानते कि वह उस महती शब्द राशि को बहुत संकुचित कर देती है। आप पहले अपने को सर्वतन्त्र स्वतंत्र बना लीजिए, न जनता की रूढियों को मानिए, न पाणिनि-कात्यायन-पतञ्जलि को; सिर्फ उपसर्ग, और प्रत्यय धातुओं पर लगाते जाइए। प्रत्यय में तो संस्कृत और भी समृद्ध है, उणादि-प्रत्ययों को लगाकर जयपुर के स्वर्गीय महामहोपाध्याय शिवदत्त जी ने "मास्टिर", "कलक्टर" जैसे न जाने कितने शब्दों को साध दिया था, फिर हम भी न जाने कितने गर्जरेण्य, वर्दरेण्य और दर्शरेण्य शब्द बना सकते हैं। सचमुच हमारे लिए शब्द का अकाल नहीं है।

"गुन ना हिरानो, गुन गाहक हिरानो है।" और आजकल नागपुर में "गुन-गाहकों" की भी कमी नहीं।

-अच्छा तो अब कुछ उपसर्गों के चमत्कारों की बानगी लीजिए।

सुव्युद=वि+उद जिससे आप विशेष जल समझने की कोशिश करेंगे, यदि अच्-संधि तक कभी आप का पैर पड़ा हो; लेकिन इतने साधारण अर्थ आचार्य के नहीं हुआ करते। इसका अर्थ है dehydro अर्थात आर्द्र वस्तु को शुष्क वस्तु के रूप में परिणत करना।

दूसरा चमत्कार लीजिए : सुविव=सु+वि+व जो aldol का पर्याय है। इसमें 'व' सुयव या alcohol का संक्षेप है। कोई शका उठा सकता है "वि" उपसर्ग से ही काम चल जाता, फिर एक और सु लगाने की क्या आवश्यकता थी। लेकिन आचार्य उपसर्गों का एक महत्व और भी मानते हैं, जिसे कि संस्कृतवाले कभी-कभी 'अलकारार्थ' शब्द से प्रकट करते है। उनके ऐसे बहुत से प्रयोग हैं, जिनमें केवल अलकारार्थ उपसर्गों का प्रयोग होता है। आखिर आज-कल की दुनिया, विशेषकर हमारी ललनाएं, जब अलंकार पर इतना मुक्तहस्त देखी जाती हैं, तो आचार्य का ध्यान क्यों न इधर जाता?

जीरा ग्राम्य शब्द है। उसमें प्र लगाने से उसका ग्राम्य-दोष निकल जाता है और हमें शुद्ध संस्कृत प्रजीर शब्द मिल जाता है। आप कहेंगे कि जीरा के तेल का पर्याय क्या बनेगा? सुनिए, इसका पर्याय है प्रजीरोऐल। प्रजीर तो हुआ जीरा। उग्र वैसे acro के लिए भी आया करता है। लेकिन कभी-कभी वह भी शोभा का काम देता है और ऐल है तैल का प्रत्याहार। इस तरह जीरा-तेल के लिए आपको कितना सुन्दर नाम मिल गया—प्रजीरोऐल।

उत्कोल सोचिए तो, किस वस्तु का नाम है। यह नगरो मे दुर्लभ वस्तु नहीं है, यद्यपि आजकल दाम कुछ चढा हुआ है। यह उत्+कोल से बना है। उत् उपसर्ग तो स्पष्ट है। दूसरे पर जरा बुद्धि दौड़ाइए। यह मनुष्यवाची नहीं, न पशुवाची है। अब कोश उठाने पर शायद आपको मालूम हो जायगा कि बेर का भी एक नाम कोल है। और उत् उपसर्ग का अर्थ है उच्च, उच्चजातीय बेर। कहीं बनारसवाले झपट न पड़ें, इसलिए मैं खोल देना चाहता हूं कि यह है सेब का शुद्ध सस्कृत नाम। फारसी का सेब खाते-खाते हम नहीं ऊबे, न ऊबेंगे; लेकिन इस फारसी शब्द ने सचमुच ही हम लोगों को भ्रष्ट कर दिया था!

और कुछ उपसर्गों के चमत्कार "मुश्ते अज खरवारे" (मन भर में एक मुट्ठी) आपके सामने रखता हूं। उन्निमुब्ज=उत्+निम्मुब्ज। यहां दो उपसर्ग तो साफ ही मालूम हो रहे हैं, शायद तीसरा भी छिपा हो तो कोई आश्चर्य नहीं। हम इसके एक-एक शब्द का अर्थ नहीं करेंगे, आखिर महाकोश किस काम

के लिए छापा जा रहा है ? इस सारे शब्द का अर्थ है Convexo-Concave lens (चिपके और फूले पेटवाला शीशा)।

न्यवरक्तातिपीत=नि+अव+रक्त+अति+पीत, जिसका अर्थ Gold-bronze सोन पितली रंग है।

औद्रेखिकी=उद्+रेखा+ इकी अर्थात् जिसमें रेखाएं उठी हुई हों, ऐसी विद्या अर्थात् drawing। प्रसकरण=प्र+स+करण। प्र शोभार्थ आया है, *नही तो अर्थ है प्राणियों की संकर-क्रिया।*

और सोचिए जरा अभियन्त्रणा किसके लिए आया होगा ? यन्त्रणा= सासत, अभि अर्थात् बार-बार या सामने या अत्यधिक। इतना बतला देने पर आप इस शब्द का क्या अर्थ लेंगे ? हम समझते हैं, बड़े से बड़ा दिमागबाज भी वहा नही पहुंच सकता, जहा तक इस शब्द रचना के लिए उड़ान भरी गयी है। इसका अर्थ है इंजीनियरी। यदि आप को पहले का पढ़ा-पढाया, सुना-सुनाया बहुत कुछ भूलना पड़ रहा है, तो आप इसके लिए सिर्फ अपने को दोष दे सकते हैं। क्योंकि, आप यन्त्र को इंजन जैसी मशीनों के अर्थ मे स्वीकार कर ही चुके है, फिर *"गुड़ खाय गुलगुलों से परहेज" क्यो ? अभियन्त्रणा भी स्वी-*कार कर लीजिए, कोई बात नहीं यदि थोड़ी सी यन्त्रणा होती ही हो !

प्रत्ययों ने भी आचार्यश्री के हाथों मे आकर अद्भुत चमत्कार दिखलाया है। यविरा=यव से बनायी हलकी शराब है जिसे अंग्रेजी में बियर कहते हैं। *बियर-पायी लोगों को निराश नही होना चाहिए।* जैसे मद से मदिरा बनी थी, उसी तरह यव से यविरा और आगे चलकर स्थविरा आदि न जाने कितने शब्द बनकर अपने अवांछनीय भावों को छोड़ आकर्षक अर्थ धारण करेंगे।

लेख बहुत बड़ा नही होना चाहिए, इसका भी ध्यान रखना आवश्यक है, नहीं तो सम्पादक-बन्धुओं के सामने धर्म-सकट उपस्थित हो जायेगा। संक्षेप में कुछ प्रत्यय निम्न प्रकार हैं :

इरा और एण्य की बानगी आप देख चुके, ईण्यल प्रत्यय को आप कर्पूरी-*ण्यल में पायेंगे, जिसका अर्थ है* Camphanyl (कपूर से बनने वाला कोई सत्त)। कुछ शब्दों को संकुचित करके भी आचार्य ने प्रत्यय का रूप दिया है, जिनमे धातु के लिए आतु आता है और वाति (गैस) के लिए आति, खनिज के लिए इज, प्राणियों की जाति के लिए जाति का ति रह जाता है। इस प्रकार *आपको शब्द मिलते हैं—स्फट्यातु* (Crystallium स्फटिकधातु), क्षारातु= Sodium, भ्राजातु=Magnesium, चूर्णातु=Calcium, कुप्यातु= (जस्ता) Zinc, महातु=Platinum, भिदातु=Bismuth, किरणातु =*Uranium, यानाति Helium, तथा भूयाति=Nitrogen।*

रासायनिक तत्वों के लिए ला प्रत्यय जोड़कर भी कितने ही नाम बनाये

गये हैं। मालूम नहीं इनमें वन्देमातरम् को "सुजला सुफला शस्यश्यामला" पंक्ति ने प्रेरणा दी है, या अभिनव हिन्दी-कविताओं में लकार जोड़कर कोमल शब्दों के बनाने की परिपाटी ने।

देखिए रसायन के ९२ तत्वों में से ५७वें से ७१वें तक ला की ठाठ: सुजारला (Lanthanum), पुष्कला (Cerium), श्यामला (Praseodymium), आपीतला (Neodymium), पिविरला (Illinium), धूसरला (Samarium), किंविरला (Europium), योनिला (Gadolinium), इद्भृशला (Terbium), धुम्बला (Dysprosium), पाण्डुला (Holmium), रक्तला (Erbium), व्याहरिला (Thulium), श्वेतला (Ytterbium), निर्वर्णला (Lutetium)।

हमारे पाठकों को यह देखकर सतोष की सास लेनी चाहिए कि आचार्य ने अयस, रजत, त्रपु, स्वर्ण, पारद, सीस को अपने स्थान पर रहने दिया है। हा, लोहक का अर्थ अब Manganese है, रूपक का Nickel (गिलट) जिसमें रूपक पर तो हाल के गिलटवाले रुपये की छाप साफ पड़ी मालूम होती है।

आचार्य ने कही-कहीं विदेशी शब्दों को उनके उच्चारण-सादृश्य और खण्डार्थ-सादृश्य को रखते हुए भी शब्द बनाये हैं, जिनमे बहुत से शब्दों मे एक शुल्वारि है। यह सल्फर का संस्कृत रूप है। इस नये शब्द ने हमे गन्धक की दुर्गन्ध से बचा दिया।

कार्बन के लिए प्रागार शब्द लिया गया है। संस्कृत में भी अंगार कोयले के लिए आता है और नागपुर में तो उसकी आपामर-प्रसिद्धि है। उसकी पामरता दूर करने के लिए "प्र" लगाया गया है। फिर जैसे कार्बन से सन्तानों की झड़ी लग जाती है, वैसे ही प्रागार से अनगिनत शब्द बनाये गये या बनाये जा सकते हैं जिनमें से एक है प्रागविक (कार्बोलिक)। अब आपको कार्बोलिक साबुन को प्रागविक स्वफेन कहना होगा।

स्मरण रखिए, मध्यप्रान्त की सरकार इस सारी शब्द रचना की पीठ पर है, इसलिए बोलना ही होगा, और मध्यप्रान्तीय बच्चों को तो यह सब घोखना पड़ेगा। स्वफेन सोप और साबुन दोनों के मिश्रित उच्चारणों का ही विदग्ध अनुकरण है।

प्रांगविक को हमारे एक बनारस के संस्कृत के आचार्य प्र+अं+गो+इक मे साध रहे थे। हमने तो कह दिया—बस, रहने दीजिए आचार्य जी! कैसे आप आचार्य प्रथम-श्रेणी में पास हुए? आप इसे गाय के साथ जोड़ना चाहते हैं, लेकिन न इसका पंचगव्य के साथ सबंध है, न गाय की किसी और भक्ष्याभक्ष्य वस्तु से। इसमे शुद्ध प्रांगार और इक प्रत्यय लगा हुआ है। 'र' के लोप

करने का आप ही को ठेका नही मिला है। इस तरह प्रामाणिक शुद्ध संस्कृत शब्द बन गया।

यद्यपि आचार्य रघुवीर शब्दों मे संस्कृत रूप के ही पक्षपाती है, लेकिन शब्दो के निर्माण मे वह अंग्रेजी रूढि की काफी कद्र करते हैं। बुलडाग को उन्होने वृष-कुक्कुर बना दिया और बुलफ्राग को वृष-मण्डूक।

अंग्रेजी शब्द बेरी Berry के लिए उन्होने बदर शब्द को प्रयुक्त किया। बदर के हिन्दी के रूप बेर और अंग्रेजी बेरी में सादृश्य भी है, इसलिए हिन्दी वालो को आचार्य का कृतज्ञ होना चाहिए। उन्होंने strawberry को तृण बदर किया है। अब आप समझ ही सकते है कि gooseberry हंस-बदर बन जायेगी और mulberry शायद खचर-बदर (खच्चरबदर) बन जाय।

जानते है चिंपांजी मानव-जाति के सबसे नजदीक के संबंधी का नामकरण क्या हुआ है? मेध्य-वानर। यज्ञ मे जिन पशुओं का आर्य लोग आलंभ किया करते थे और अग्नि देवता के मुख से देवताओं के पास पहुंचने से बचे जिनके मांस और वसा को यज्ञशेष के नाम मे प्रसादरूपेण ग्रहण करते थे, उन पशुओं को मेध्य कहा जाता था—यानी म्लेच्छ भाषा मे जिसे हलाल कहते हैं। चिंपाजी का नाम रखा गया है: मेध्य-वानर। बस यहा ही हम जरूर आचार्य से मतभेद रखेंगे, क्योंकि उनके इस नामकरण से ध्वनित होता है कि सुग्रीव और हनुमान के वंशज अमेध्य हैं। और मैं अभी-अभी किन्नर देश में इनके उपद्रव को देख कर वहा के लोगों को वानर-यज्ञ का मन्त्र दे आया हूं। कुर्ग-वाले सद्हिन्दू तो आचार्य की इस बात मे बहुत रुष्ट होगे क्योंकि वहा सुग्रीव के वंशज मेध्य माने जाते हैं।

आचार्य की बुद्धि का चमत्कार एक छोटे से लेख में नही आ सकता। जानते है मर्कटाम्न किसका नाम है? आप कहेंगे—वानरो का प्रिय अन्न या मकड़ी का प्रिय अन्न। सो तो हम नहीं कह सकते। लेकिन आचार्य ने इस शब्द को मक्का के अर्थ में प्रयुक्त किया है।

और, लोमश को अब लोमश ऋषि से हटाना पड़ेगा, क्योंकि यह नाम लोमड़ियों को मिला है! अपना-अपना भाग्य है, क्या करेंगे?

आचार्य ने घरेलू चीजों के नामो मे भी हिन्दी को समृद्ध किया है। जेब या थैली के लिए नाम दिया गया है—गोह। जेब-घड़ी का पर्याय है—गोह-घटक। गोह से किसी जल-थल के जानवर की तरफ नजर न दौड़ाइए और न घटक से मिथिला के ब्याह करानेवाले पण्डों की ओर।

अन्त में हम एक शब्द के लिए आचार्य को हार्दिक धन्यवाद देकर अपने लेख को समाप्त करते हैं; वह है वलभि शब्द, जो बहुत ही भावद्योतक है।

मालती-माधव में कभी पढ़ा था "भूयो भूयः सविधनगरी-रथ्यया पर्यटन्तं

दृष्ट्वा दृष्ट्वा स्वगृह-वलभी-तुंगवातायनस्था", जिसका हम अर्थ समझते थे—मालती के घर की सड़क पर जिस वक्त माधव घूमा करता था, उस समय अपने घर के बार्जे के ऊचे जगले से मालती उसकी ओर स्नेह-भरी दृष्टि से देखा करती थी। ३५ वर्ष हुए जबकि यह गलत अर्थ हमें समझ में आया था। किन्तु, अब मालूम होता है कि महाकवि भवभूति के नायक और नायिका मालती-माधव पुराने ढर्रे के प्रेमी और प्रेमिका नही थे, जो इतनी साधारण रीति से एक-दूसरे के साथ प्रेमाभिनय करते। आचार्य ने वलभी को डेस्क या लिखने की मेज बनाया है। इस एक शब्द ने हमारी ३५ साल की भ्रान्ति को दूर कर दिया। वस्तुतः मालती अपने तुग वातायन पर डेस्क लगा कर बैठी ही नही रहती थी, बल्कि शायद कोई प्रेम की कहानी लिखती थी और उसका प्रेमी माधव भी साधारण तौर से पर्यटन नही करता रहता था, अवश्य वह द्विचर्की (बाईसिकिल) पर चढ कर सड़क का चक्कर लगाता रहता होगा।

आचार्य के परिश्रम के लिए सारे भारतवासियों को कृतज्ञ होना चाहिए, और बड़ी उत्सुकता के साथ उनके वृहत्-कोश के प्रकाशित होने की प्रतीक्षा करनी चाहिए। सुना जाता है, मध्यप्रान्त की सरकार ने इस कोश की परिभाषा के अनुसार कही-कही कालेजों में पढाई भी शुरू करवा दी है। वहा विद्यार्थी अब जरूर यह समझने लगे है कि हमारे पूर्वज क्यों "घोखन्त विद्या" कहा करते थे।

मैं तो इस जन्म के लिए हिम्मत हार चुका हूं और अगले जन्म पर विश्वास नही रखता, नही तो इन्द्र की भाति सहस्र वर्ष लगा कर भी इस नये शब्दानुशासन पर अधिकार प्राप्त करता। दूसरे हिम्मतवालो से मैं यही कह सकता हू—"शिवा वः सन्तु पन्थानः"।